भाग २

अमृतवाणी

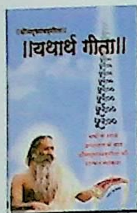
गूढ़ पदों के सन्देश



स्वामी श्री अड़गड़ानन्द जी महाराज



हमारे प्रकाशन



यथार्थ गीता -
'यथार्थ गीता' में
श्रीकृष्ण की वाणी के
आशय को भली प्रकार
यथावत् समझाया है।
यह एक कालजयी कृति है।

२८ भाषाओं में



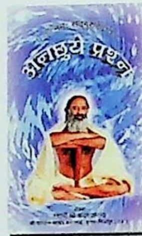
अंग क्यों फड़कते हैं और
क्या कहते हैं? -
मानव शरीर के विभिन्न हिस्सों में
होने वाले स्पन्दनों का कारण और
उसके संकेतों का विश्लेषण किया गया है
जो कि साधना में काफी सहायक है।

४ भाषाओं में



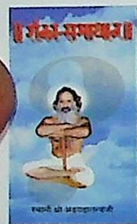
जीवनादर्श एवं आत्मानुभूति -
पूज्य गुरु परमहंस
स्वामी श्रीपरमानन्दजी महाराज
के जीवन के वृत्तान्त, उनकी
अनुभूतियों एवं उपदेशों को
संकलित किया है। साधकों के लिए
यह बहुत उपयोगी ग्रन्थ है।

४ भाषाओं में



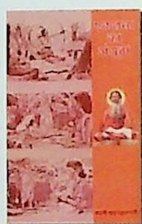
अनछुए प्रश्न -
वर्ण, मूर्तिपूजा, ध्यान, हठ, [illegible]
और योग जैसे विषयों को [illegible]
भ्रमित समाज का मार्गदर्शन [illegible]

३ भाषाओं में



शंका समाधान -
समाज में प्रचलित सभी कुरीति,
रूढ़ि, आडम्बर और अन्धविश्वासों
का शमन एवं समाधान किया है।

५ भाषाओं में



एकलव्य का अंगूठा -
शिक्षा-गुरु और सद्गुरु में अन्तर
बतलाया गया है। शिक्षक, लोकजीवन
की कला सिखाते हैं जबकि
सद्गुरु जीवन में समृद्धि के साथ
परमश्रेय की जागृति और उस परमपद
की प्राप्ति कराते हैं जिससे पुरुष
आवागमन से मुक्त हो जाता है।

३ भाषाओं में



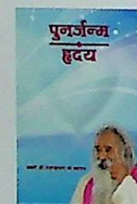
भजन किसका करें?-
लोग गाय, पीपल, देवी-देवताओं,
भूत-भवानी की पूजा, धर्म के नाम पर
कर रहे हैं। प्रस्तुत पुस्तक में इन सभी
भ्रान्तियों का निवारण करते हुए स्पष्ट
किया गया है कि सनातन धर्म क्या है?
इष्ट कौन है?
भजन किसका करें व कैसे करें?

६ भाषाओं में



षोडशोपचार पूजन पद्धति -
इस पुस्तम में यह बताया गया है कि
एक परमात्मा में श्रद्धा स्थिर कराकर,
उस एक परमात्मा का चिन्तन सिखाना ही
कर्मकाण्ड है।

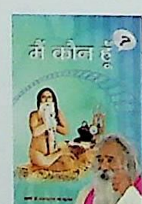
३ भाषाओं में



हिन्दी भाषा में

पुनर्जन्म
बौद्धिक स्तर पर यह एक उलझा हुआ प्रश्न है। मनुष्य जन्मा, जीवन-यापन किया; शरीर छूटा, चला भी गया; कुछ समझ ही नहीं पाया कि पुनर्जन्म है या नहीं। किन्तु योगाभ्यास की एक निश्चित ऊँचाई से मनुष्य जब गुजरता है तो उसे स्पष्ट दिखाई देता है कि पुनर्जन्म है? मैं क्या था? आगे कहाँ जाना है?

हृदय
शरीर में हृदय कहाँ है जिसमें परमात्मा का निवास है? हृदय का परिचय तथा परमात्मा को जानने की सम्पूर्ण विधि पर प्रकाश डाला गया है। क्रमोन्नत तीन शरीर हैं- स्थूल, सूक्ष्म और कारण। क्रमशः कारण शरीर के अन्तिम स्तर पर साधन पहुँचता है, तहाँ ईश्वर का निवास है। यह पुस्तिका इन्हीं प्रश्नों का पूर्ण परिचय देती है।



हिन्दी भाषा में

मैं कौन हूँ?
जन्म से ही नाना प्रकार के सम्बन्धों में भ्रम हो जाता है कि मैं कौन हूँ? यह जिज्ञासा यौगिक है। 'वासांसि जीर्णानि. ....'- शरीर एक वस्त्र है। यह शरीर छूटा, दूसरा मिला। तामस गुण के कार्यकाल में मृत्यु को प्राप्त हुआ पुरुष पशु, कीट-पतंग इत्यादि अधम योनि प्राप्त करता है। राजसी गुण के कार्यकाल में वह मनुष्य तन पाता है। सात्त्विक गुण के कार्यकाल में देव इत्यादि उन्नत योनि पाता है- हर हालत में योनि पाता है। अतः यह प्रश्न ज्यों-का-त्यों है कि मैं कौन हूँ? वास्तव में जब द्रष्टा यह आत्मा अपने स्वरूप में स्थिर हो जाता है तो वही आपका वास्तविक स्वरूप है।

।। ॐ नमः सद्गुरुदेवाय ।।

अमृतवाणी

सन्तों के गूढ़ पदों के सन्देश

पूज्य स्वामी श्री अड़गड़ानन्दजी महाराज के
मुखारविन्द से निःसृत अमृतवाणियों का संकलन

भाग – 2

प्रकाशक :

श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट

न्यू अपोलो इस्टेट, गाला नं. ५, मोगरा लेन
(रेल्वे सब-वे के पास), अंधेरी (पूर्व), मुंबई - ४०००६९, भारत

प्रकाशक :
श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट
न्यू अपोलो इस्टेट, गाला नं. ५, मोगरा लेन
(रेल्वे सब-वे के पास), अंधेरी (पूर्व), मुंबई - ४०००६९, भारत
दुरध्वनी - ०२२-२८२५५३००
ई-मेल - contact@yatharthgeeta.com
वेबसाइट - www.yatharthgeeta.com

संस्करण- प्रथम, जनवरी, सन् 2012 - 10,000 प्रतियाँ
दिसंबर, सन् 2015 - 5,000 प्रतियाँ

मूल्य- रु. १००/०० मात्र

मुद्रक :
जॅक प्रिण्टर्स प्रा. लि.
जॅक कम्पाऊण्ड, दादोजी कोंडदेव क्रॉस लेन
भायखळा (पूर्व), मुम्बई - 400 027, भारत
फोन नं.- (0091-22) 2377 2222
वेबसाइट - www.jakprinters.com

ISBN : 81-89308-84-X

अनन्तश्री विभूषित,

योगिराज, युग पितामह

परमपूज्य श्री स्वामी परमानन्द जी

श्री परमहंस आश्रम अनुसुइया-चित्रकूट

के परम पावन चरणों में

सादर समर्पित

अन्तःप्रेरणा

ॐ ॐ

गुरु-वन्दना

।। ॐ श्री सद्गुरुदेव भगवान् की जय ।।

जय सद्गुरुदेवं, परमानन्दं, अमर शरीरं अविकारी।।
निर्गुण निर्मूलं, धरि स्थूलं, काटन शूलं भवभारी।।

सूरत निज सोहं, कलिमल खोहं, जनमन मोहन छविभारी।।
अमरापुर वासी, सब सुख राशी, सदा एकरस निर्विकारी।।

अनुभव गम्भीरा, मति के धीरा, अलख फकीरा अवतारी।।
योगी अद्वैष्टा, त्रिकाल द्रष्टा, केवल पद आनन्दकारी।।

चित्रकूटहिं आयो, अद्वैत लखायो, अनुसुइया आसन मारी।।
श्री परमहंस स्वामी, अन्तर्यामी, हैं बड़नामी संसारी।।

हंसन हितकारी, जग पगुधारी, गर्व प्रहारी उपकारी।।
सत्-पंथ चलायो, भरम मिटायो, रूप लखायो करतारी।।

यह शिष्य है तेरो, करत निहोरो, मोपर हेरो प्रणधारी।।
जय सद्गुरु.........भारी।।

।। ॐ ।।

ॐ ॐ

"आत्मने मोक्षार्थं जगत् हिताय च"



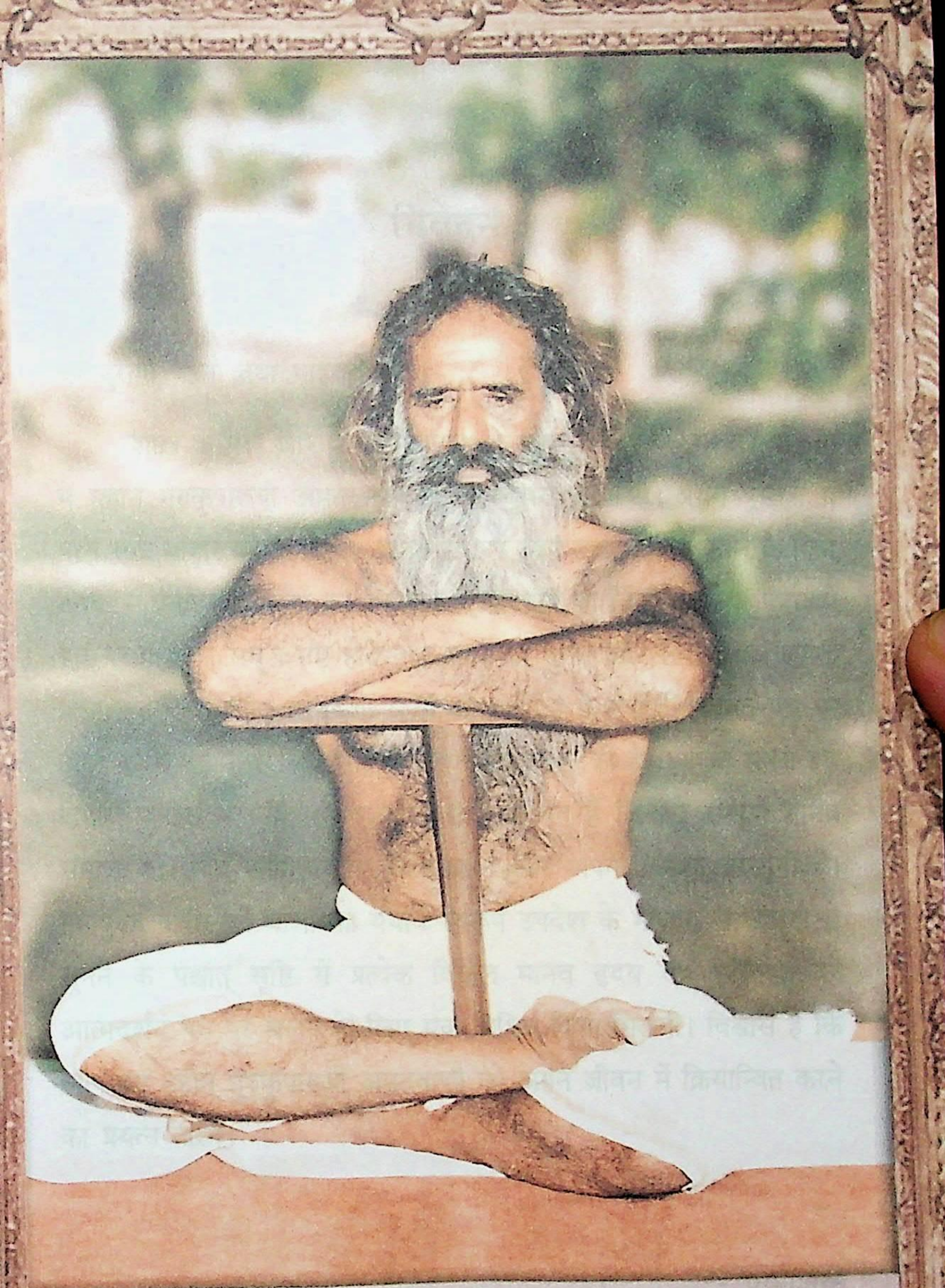
श्री श्री १००८ श्री स्वामी परमानन्दजी महाराज (परमहंसजी)

जन्म : शुभ सम्वत् विक्रम १९६९ (सन् १९११ ई०)

महाप्रयाण : ज्येष्ठ शुक्ल ७, वि०सं० २०२६, दिनांक २३/०५/१९६९ ई०

परमहंस आश्रम अनुसुइया, चित्रकूट





श्री स्वामी अड़गड़ानन्दजी महाराज

(परमहंस महाराज का कृपा-प्रसाद)

निवेदन

धर्मानुरागी बहनो तथा भाइयो!

शास्त्र के मूल आशय को महापुरुष के शब्दों में स्पष्ट करने की प्रक्रिया में महान् गुरुकृपारूपी अमृतवाणी का यह दूसरा चरण है। प्रथम पुस्तक में परम सन्त कबीर की वाणी का यथार्थ स्वरूप आप तक संप्रेषित करने के लिए उनके साधनात्मक भजनों का संकलन किया गया था जिससे अनेक पूर्वाग्रहों एवं दुराग्रहों को समूल नष्ट होते तथा सत्य को सुनने और समझने की क्षमता प्राप्त होते देखा गया। तत्त्वदर्शी सन्तों की वाणियों ने सदा ही भगवत्-पथ पर आगे कदम बढ़ाने के लिए साहस और क्षमता प्रदान की है। आपके समक्ष इस द्वितीय पुस्तक में पुनः परमपूज्य गुरुदेव उपस्थित हैं जिन्होंने सम्पूर्ण मानव समाज को सदैव स्नेहिल दृष्टि से देखा है और अपनी करुणा बरसायी है। महापुरुष कबीर की वाणी का यथार्थ स्वरूप उपदेश के माध्यम से श्रीमुख से सुनने के पश्चात् सृष्टि में प्रत्येक विकल मानव हृदय एवं मस्तिष्क को आत्मदर्शन पथ पर चलने के लिए एक निश्चित दिशा मिलेगी। विश्वास है कि आप इस महान् गुरुकृपारूपी अमृतवाणी को अपने जीवन में क्रियान्वित करने का प्रयत्न करेंगे।

- प्रकाशक

अनुक्रमणिका

।। ॐ ।।

अमृतवाणी

(कैसेट संख्या– 5:1)

सन्तो! जागत नींद न कीजै...

सन्तो! जागत नींद न कीजै।
काल न खाय कलप नहिं व्यापै, देह जरा नहिं छीजै॥ सन्तो...
उलटी गंग समुद्रहिं सोखै, ससि अउ सूरहिं गरासै।
नव ग्रह मारि रोगिया बैठे, जल में बिंब प्रकासै॥ सन्तो...
बिनु चरनन को दहुँ दिसि धावै, बिनु लोचन जग सूझै।
ससा उलटि सिंह को ग्रासे, ई अचरज कोइ बूझै॥ सन्तो...
अउँधे घड़ा नहिं जल भरिया, सूधे सो जल भरिया।
जेहिं कारन नर भिन्न भिन्न करै, गुरु प्रसाद सो तरिया॥ सन्तो...
बैठि गुफा में सभ जग देखे, बाहर किछउ न सूझै।
उलटा बान पारधिहिं लागे, सूरा होय सो जूझै॥ सन्तो...
गायन कहै कबहुँ नहिं गावै, अनबोला नित गावै।
नट वट बाजा पेखनि पेखै, अनहद हेत बढ़ावै॥ सन्तो...
कथनी बदनी निजुकै जोवै, ई सभ अकथ कहानी।
धरती उलटि अकासहिं बेधे, ई पुरुषन की बानी॥ सन्तो...
बिना पियाला अमृत अँचवै, नदी तीर भरि राखै।
कह कबीर सो जुग जुग जीवे, जो राम सुधारस चाखै॥ सन्तो...

इस भजन में सन्त कबीर ने साधकों को सचेत किया है कि **'सन्तो! जागत नींद न कीजै'**। रामचरितमानस में गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा है–

मोह निसाँ सबु सोवनिहारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा।।

(रामचरितमानस, 2/12/2)

मोहरूपी रात्रि में सब अचेत पड़े हैं। वे जो कुछ रात-दिन दौड़-धूप करते हैं, मात्र स्वप्न देखते हैं। चराचर जगत् सोया हुआ है। उसमें केवल एक प्राणी मनुष्य तब जागता है–

जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा।।

(रामचरितमानस, 2/12/4)

इस जीव को जगा हुआ तब जानना चाहिए जब सम्पूर्ण विषयों से वैराग्य हो जाय। काम, क्रोध, राग, द्वेष कोई विकार या रूप, रस, शब्द, स्पर्श और गन्ध इत्यादि किसी प्रकार का विषय उसे आकर्षित न कर सके; इनसे भली प्रकार वैराग्य हो जाय किन्तु अधिकांश साधक विकारों से इतना अलग नहीं हो पाते। उन्हीं को सम्बोधित करते हुए सन्त कबीर कहते हैं– संतो! जग तो गये हो, ईश्वर-पथ पर चल तो दिये हो किन्तु **'नींद न कीजै'**– असावधान मत रहना।

नींद की नहीं जाती, बलात् आ जाती है। जो जगता है, स्वाभाविक रूप से सोता भी है। किन्तु भजन की जागृति के पश्चात् एक निद्रा ऐसी है जो की जाती है। साधन-पथ पर कुछ दूरी तय करने के बाद कोई साधक मान-सम्मान में फँस जाता है तो कोई कुटी बनाने में लग जाता है, कोई ऋद्धियों-सिद्धियों में उलझ जाता है। वह जग तो गया था किन्तु यह निद्रा उसने स्वयं की है, स्वयं अपने को उधर झुकाया है। यदि वह सचेत है, भली प्रकार आज्ञापालन में सुदृढ़ है तो इन विघ्न-बाधाओं की निद्रा से वह बच जायेगा। इसलिए ऐसा कुछ न कर लें कि पुनः मोह-निशा की निद्रा अचेत बनाकर निगल जाय।

मान लें किसी ने निद्रा नहीं किया तो उससे लाभ क्या होगा? कबीर कहते हैं– उससे आपको मुक्ति मिलेगी, स्थिति मिलेगी। वह स्थिति कैसी है?

'**काल न खाय कलप नहिं व्यापै**'। सतत् जागरण का परिणाम होगा '**काल न खाय**'। काल बड़ा दुर्धर्ष है। काल ने किसी को नहीं छोड़ा–

अग जग जीव नाग नर देवा। नाथ सकल जग काल कलेवा।।

(रामचरितमानस, 7/93/7)

चराचर जगत् काल का कलेवा है, जलपान सामग्री मात्र है। काल से परे केवल परमात्मा है। गीता में भगवान कहते हैं– मैं काल से परे, काल से अतीत हूँ। सतत् जागृत अवस्था में रहेंगे तो काल से परे अकाल पुरुष को प्राप्त कर लेंगे। '**कलप नहीं व्यापै**'– कल्प-कल्पान्तर तक उस रहनी में कोई परिवर्तन नहीं आयेगा, स्थिति में उतार-चढ़ाव, भला-बुरा परिवर्तन नहीं आयेगा और '**देह जरा नहिं छीजै**'– शरीर जरा-जीर्ण नहीं होगा, सदैव किशोरावस्था रहेगी, वह कभी क्षीण नहीं होगा। काल से परे, परिवर्तन से परे आत्मदर्शन, स्पर्श और स्थिति है। वह निज स्वरूप है। इसलिए सन्तो! यदि जग ही गये हो तो कहीं निद्रा को आमंत्रित न कर लेना, कहीं उसके वशीभूत न हो जाना।

सदैव सचेतावस्था में रहने पर '**उलटी गंग समुद्रहिं सोखै**'। अनन्त काल से गंगा इत्यादिक हजारों नदियाँ समुद्र में समाहित होती चली जाती हैं; किन्तु भजन-पथ में कोई ऐसी गंगा है जो समुद्र को ही सुखा डालती है। वस्तुतः ज्ञान ही गंगा है–

गंगा जमुना खूब नहाये, गया न मन का मैल।

एक गंगा तो नदी है जिसमें लोग स्नान करते हैं, किन्तु अध्यात्म में ज्ञान ही गंगा है। ज्ञान परम पवित्र करनेवाला है– '**न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।**' *(गीता, 4/38)*। इसके समान पवित्र करनेवाला निःसन्देह कुछ भी नहीं है। कुछ याद कर लेना ज्ञान नहीं है। ईश्वर-दर्शन के साथ मिलनेवाली प्रत्यक्ष जानकारी, अनुभूति ज्ञान है और उस जानकारी के साथ '**जेहि जानें जग जाइ हेराई।**' *(रामचरितमानस, 1/111/2)*– उन प्रभु को जान लेने पर जगत् सदा के लिए खो जाता है। '**नाम लेत भव**

सिंधु सुखाहीं'– नाम के प्रभाव से भवसागर सूख जाता है। उस प्रत्यक्ष जानकारी के अन्तराल में समुद्र समाहित हो जाता है। यही है '**उलटी गंग समुद्रहि सोखै**'; जानकारी के साथ समुद्र सूख जाता है।

'**ससि अउ सूरहिं गरासै।**'– यौगिक शब्दकोष में बायें स्वर को इड़ा या इंगला (चन्द्र) और नासिका के दाहिने स्वर को पिंगला या सूर्य कहा जाता है। जिन दिनों पूज्य गुरु महाराज पागलों की तरह अपने चिन्तन में रात-दिन निमग्न निराधार विचरण कर रहे थे, कुछ भाविकों को सन्देह हुआ, 'यह पागल है अथवा सन्त, क्योंकि इतनी शान्ति पागलों में नहीं देखी जाती।' एक भक्त ने महाराज जी से एक दोहे का अर्थ पूछा–

एक बार हरि घोड़ा भये, ब्रह्मा भये लगाम।
चाँद सुरुज रबिका भये, चढ़ि गये चतुर सुजान॥

गुरु महाराज ने उन्हें बताया कि हरि अर्थात् परमात्मा! जो सर्वस्व का हरण करनेवाला है इसलिए हरि कहे जाते हैं। हरि से संयुक्त सिमटा हुआ मन ही हरि है। 'बुद्धि अज'– बुद्धि ब्रह्मा ही लगाम है। '**चाँद सुरुज रबिका भये**'– इंगला और पिंगला, चन्द्र और सूर्य नाड़ी रकाब हैं। इस श्वास-प्रश्वास के यजन के द्वारा चतुर और सुजान लोग इस घोड़े पर चढ़ गये हैं; हरि की अटारी पर, हरि की रहनी में प्रवेश पा गये। श्वास-प्रश्वास का यजन नितान्त आवश्यक है किन्तु ईश्वर की प्रत्यक्ष जानकारी हो जाने पर श्वास-प्रश्वास के भजन की अवस्था समाप्त हो जाती है। सुमिरन करके वह अब किसे जानेगा? इसलिए इंगला-पिंगला के चिन्तन की जगह नहीं रह जाती।

नव ग्रह मारि रोगिया बैठे, जल में बिम्ब प्रकासै।

चराचर जगत् नौ ग्रहों के द्वारा ग्रसित है। किसी को शनि की साढ़े साती है, किसी को राहु-केतु लगा है। कहीं बृहस्पति विपरीत है तो कहीं मंगल अमंगल कर रहा है। दुःखों के मूल में ग्रह कहे जाते हैं; किन्तु ईश्वरीय अनुभूति के साथ संसार-समुद्र सूख गया, उस जानकारी में समाहित हो गया। प्रकृति पुरुषोत्तम में विलीन हो गयी। श्वास-प्रश्वास, चन्द्र नाड़ी-सूर्य नाड़ी का चिन्तन

भी उसमें समाहित हो गया। उस अवस्था में **'नव ग्रह मारि रोगिया बैठे'**– जीव जो ग्रहों से ग्रसित और रोगी था, इन ग्रहों के प्रभाव से ऊपर उठ गया। उसके लिए ग्रह हैं ही नहीं। भले ही शनि की साढ़े साती उस पर सदैव बनी रहे, उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ना है क्योंकि प्राप्तिकाल में ईश्वरीय अनुभूति और स्थिति के साथ योगी के कर्म भी अशुक्ल और अकृष्ण होते हैं। उन्हें न मंगल लाभकारी है न राहु हानिकारक। आज तक जो इनसे ग्रसित था, रोगी था, वह इन्हें मारकर अलग स्थित हो गया।

'जल में बिम्ब प्रकासै'– पहले जीव संसार समुद्र के विषय वारि में स्थित था, अब उस जगत् में उसे प्रभु का प्रतिबिम्ब दिखायी देता है। सर्वत्र वह इष्ट का स्वरूप देखता है– **'बिनु गोपाल ठौर नहिं कतहूँ नरक जात धौं काहें!'** जहाँ भी दृष्टि पड़ी, अपने इष्ट का स्वरूप देखा। उस तत्त्वदर्शी महापुरुष की रहनी क्या है?–

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ *(गीता, 5/18)*

जो पण्डित हैं, पूर्ण ज्ञाता हैं, जिन्हें प्रत्यक्ष जानकारी और स्थिति मिली हैं वे विद्याविनययुक्त ब्राह्मण में, चाण्डाल में, कुत्ते, हाथी और गाय में समान दृष्टिवाले होते हैं। इतना ही नहीं, **'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्'** *(यजुर्वेद, अध्याय 40, कण्डिका प्रथम, मंत्र प्रथम)*– सर्वत्र ईश्वर का वास है, किञ्चित् भी जगत् है ही नहीं। जिसे जान लेने के बाद जगत् खो गया तो होगा कहाँ से! परिवर्तन हुआ तो क्या हुआ? जहाँ प्रकृति थी, वहाँ परमात्मा का संचार दिखायी पड़ा। यही है जल में (विश्व में) उस प्रभु का प्रतिबिम्ब प्रकाशित होना– **'जल में बिम्ब प्रकासै। सन्तो! जागत नींद न कीजै।'**

जग तो गये, अब कहीं निद्रा का आवाहन मत कर लेना नहीं तो धोखा हो जायेगा क्योंकि यह निद्रा होती नहीं, की जाती है– **'अपने हाथे बर के रसरिया, अपनी गटइया के फाँसा।'**। जो आदेश-पालन में दृढ़ है, प्रण

(टेक) का पक्का है उसे निद्रा कैसे आयेगी? प्रकृति का आवरण कैसे स्पर्श करेगा?

अचेत पर ही हमला होता है। उस समय साधक किस स्थिति में रहता है? इस पर कहते हैं–

बिनु चरननि को दहुँ दिसि धावै, बिनु लोचन जग सूझै।

सर्वत्र भगवान का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ने के पश्चात् वह महापुरुष हाथ-पाँव का प्रयोग किये बिना भी सर्वत्र कार्य करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। पूज्य गुरु महाराज जी को जब स्वरूप मिला उनमें भी यह क्षमता देखी गयी। क्रमशः महाराज जी की सेवा में कई शिष्य आ गये। एक शिष्य ने कहा, "भगवन्! हुकुम होता तो मैं इस जंगल में रहता।" महाराज जी ने कहा, "हूँ! पन्द्रह दिनों से देख रहा हूँ, तुम लोग दोपहर में जंगल में आ-जा रहे हो। मैं जानता था कोई न कोई खुराफात तुम लोग जरूर कर रहे हो। कोई झोपड़ी बनाया है क्या?" शिष्य ने कहा, "जी, महाराज!" महाराज जी ने कहा, "ठीक है! जाओ रहो। सात दिन में एक दिन आकर मोर दर्शन कर लिया कर। जा कर भजन!"

घोर जंगल में अकेले रहना। झोपड़ी भी जहाँ बनी थी, शेरों का रास्ता था। एक दिन भगवान ने उन शिष्य (श्री ब्रह्मचारी जी) से कहा– 'आज सोना मत।' झोपड़ी के बाहर बैठने के लिए एक मचान बना लिया गया था। चार मोटी लकड़ियाँ गाड़कर उनके ऊपर आड़ी-तिरछी लकड़ियाँ डालकर जमीन से सात फीट ऊपर तखत जैसा मचान था। उसी पर बैठकर ब्रह्मचारी जी रात में भजन करते और आवश्यकता पड़ने पर सो भी लेते थे।

उस दिन जब गुरु महाराज ने आदेश दिया कि 'आज सोना मत', ब्रह्मचारी जी बैठकर भजन करते रहे। रात्रि के एक बज गये। उन्होंने विचार किया सोना तो है नहीं, लेटकर थोड़ा कमर सीधा कर लूँ। ज्यों कमर सीधा किया, लकड़ी के पटरे में पीठ का स्पर्श हुआ, तत्काल नींद आ गयी। इतने में मचान के नीचे शेर आ गया। वह अपने शरीर का पिछला भाग पृथ्वी पर

रखकर अगले पंजे से यों बैठा था जैसे कुत्ते बैठते हैं। वह ऊपर की ओर मुँह कर कुछ सूँघ रहा था कि ऊपर माल-पानी कितना है? भोजन के लिए पर्याप्त है भी या नहीं? वह मचान पर उछलने का उपक्रम कर रहा था।

इतने में गुरु महाराज की आवाज गूँजी, ''सुतत है! कहा था, सोना मत।'' ब्रह्मचारी जी को लगा जैसे महाराज ने अपने हाथ से पखौड़े के पास पकड़कर लगभग एक फीट ऊपर खींच दिया, सिर लकड़ियों से एक फीट ऊपर आ गया। ब्रह्मचारी जी जजक के उठे। वह हड़बड़ी में देखने लगे, गुरु महाराज आ गये क्या? नीचे दृष्टि पड़ी तो काली-काली छाया दिखाई पड़ी। उन्होंने टार्च जलाया तो शेर का मुँह दिखाई पड़ा। शेर धीरे से उठा और झाड़ी की ओट में हो गया। झाड़ी अर्थात् मचान से दस फीट मात्र! शेर रात भर स्वाँस रोककर वहीं खड़ा रहा। ब्रह्मचारी जी चुपचाप बैठे रह गये। पाँच बजते ही शेर ने दौड़ लगायी, मंदाकिनी गंगा पार किया और थोड़ी ही देर में मृगों की चीख सुनाई पड़ी। ब्रह्मचारी जी ने समझ लिया कि शेर अपने भोजन की जगह पहुँच गया।

चरणों से गुरु महाराज तो अपने आसन पर थे किन्तु किस पर कहाँ क्या संकट आनेवाला है, '**बिनु नयनन जग सूझे**'– भक्त कहीं पुकारेगा, गुरु महाराज कहते थे कि मैं हाजिर मिलूँगा। गुरु महाराज शरीर से तो नहीं गये, किन्तु स्वरूप से पहुँच गये, आवाज भी दिया, उठा भी दिया। यही है **'बिनु चरनन ते दहुँ दिसि धावै।'**

'**ससा उलटि के सिंह को ग्रासे।**'– उनके संरक्षण में ससा अर्थात् खरगोश की तरह भयाक्रान्त संशययुक्त साधक उलटकर सिंह को ही पकड़ने की क्षमता पा जाता है। सिंह प्रकृति का ही भयावह पहलू है–

सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान्। *(गीता, 1/12)*

भीष्म पितामह ने सिंहनाद की तरह शंख बजाया। भ्रम ही भीष्म है। भ्रम जब जागृत होता है तो और भी भयावह दृश्य खड़ा कर देता है। साधक जब गुरुदेव की शरण में आता है, निरीह और कातर होता है; किन्तु सद्‌गुरु

की कृपा होते ही वह प्रकृति के भयावह पहलू से ऊपर चला जाता है, वह शूरवीर हो जाता है। किन्तु **'यह अचरज कोइ बूझै'**– जिसके हृदय में यह घटित होता है वही जानता है; जो जग गया है। अहर्निशि जो लगा है, वह निद्रा के वशीभूत नहीं है। यदि साधक कुछ देर गप्प हाँकने लगे, लोगों से परामर्श करने लगे तो वह मोह-निशा, अचेतावस्था की ओर बढ़ रहा है। यही साधक का सोना है।

अउँधे घड़ा नहिं जल भरिया, सीधे से घट भरिया।

घड़ा यदि उलटा है तो जल नहीं भरता, सीधे घड़े में जल भरता है। आपका शरीर भी एक घट है। इसका रूख सीधा कीजिए। प्रभु क्या कहते हैं उसे समझिये और तुरन्त धारण कीजिए; जैसा आपको चलने को कहते हैं वैसा आचरण कीजिए। इसका परिणाम होगा, **'जेहिं कारण नर भिन्न भिन्न कर'**, प्रभु अलग हम अलग जिस माया के कारण हैं–

मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया।।

(रामचरितमानस, 3/14/2)

तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। बिद्या अपर अबिद्या दोऊ।।

(रामचरितमानस, 3/14/4)

एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव पड़ा भवकूपा।।

(रामचरितमानस, 3/14/5)

जिस अविद्या माया के कारण नर भिन्न-भिन्न कहता है, **'गुरु प्रसाद सो तरिया'**– गुरु के कृपा-प्रसाद से उस माया को पार कर जाता है। आपका दायित्व केवल इतना ही है कि घट को सीधा रखें।

पाछे लागा जाइथा, लोक वेद के साथ।
मारग में सतगुरु मिल्या, दीपक दीन्हा हाथ।।

सामाजिक व्यवस्था के संचालन के लिए संसार में अनेकों विधि-विधान प्रचलित हैं। कोई कहता है– कुलरीति सनातन है। अपनी समझ से वह कल्याण का ही पथ पकड़े हुए है। बहुत से लोग वेद-रीति से सकाम

अनुष्ठानों में लगे हैं। सन्त कबीर कहते हैं– दोनों ही धोखा है। इन रीति-रिवाजों का कभी अन्त नहीं होता। '**मारग में सतगुरु मिल्या, दीपक दीन्हा हाथ।**'– ईश्वर-पथ में जब कुछ पुण्य जागृत हुआ, पकड़ काम करने लगी तो सद्‌गुरु मिल गये। उन्होंने हाथ में दीपक दे दिया कि दीपक के आलोक में देखता जा और चलता जा।

दीपक दीन्हा हाथ में, वस्तू दई लखाय।
कोटि जनम का पन्थ था, पल में पहुँचा आय।।

सद्‌गुरु पर सबने बल दिया। परमात्मा राम ने कहा, '**मो ते अधिक सन्त कर लेखा।**', '**तुम ते अधिक गुरुहि जिय जानी।**'– सद्‌गुरु को मुझसे अधिक समझो। जिस माया के कारण लोग अपने और परमात्मा को भिन्न समझते थे, '**गुरु प्रसाद सो तरिया**'– केवल घट को सीधा रखें; प्रभु क्या कहते हैं, समझें, लगें और चलते भर जायँ। लगने का तरीका घट से मिलनेवाला निर्देश है, बाहर कुछ करने से कुछ भी नहीं होगा। जब कभी किसी ने पाया है, हृदय-देश में पाया है। इसी की ओर सम्बोधित करते हैं–

बैठि गुफा में सब जग देखे, बाहर कछू न सूझै।

हृदय को महापुरुषों ने गुफा की उपमा दी है। किसी ने इसी को किला कहा, '**किले में उलटि लड़े सो सूर!**' विविध तरीकों से समझाया है क्योंकि जब कभी किसी ने पाया तो हृदय-देश में पाया। चित्त को सब ओर से समेट कर जब हृदय-देश में आपका मन स्थिर हो गया, बैठ गया तो '**सब जग देखे**'। कैसा है भगवान? क्या है संसार?– यह पकड़ में आ जाता है। वह सब कुछ जान लेगा। यदि साधक बहिर्मुखी है तो कुछ भी दिखाई नहीं देगा। इसलिए एकान्त-देश का सेवन करते हुए चित्त को सब ओर से समेटकर हृदय-देश में निरुद्ध करें जिससे श्वास बाँस की तरह खड़ी हो जाय। दूसरे संकल्प अवरोध न उत्पन्न करें। मन को इष्ट के चरणों में लगायें। चिन्तन में सद्‌गुरु का स्वरूप क्रमशः ऐसा दिखाई देने लगता है जैसे दर्पण में अपना मुँह दिखाई देता है। रामचरितमानस में इसका अच्छा उल्लेख है–

श्रीगुर पद नख मनि गन जोती। सुमिरत दिब्य दृष्टि हियँ होती।।

(रामचरितमानस, बालकाण्ड, सोरठा 5/5)

गुरु महाराज के पद-नख की ज्योति मणि और माणिक्य के तुल्य है जिसके सुमिरण से हृदय में दिव्यदृष्टि का संचार होता है। '**बड़े भाग उर आवइ जासू।**' *(रामचरितमानस, 1/5/6)*, किसी ने प्रयास किया, चरण हृदय में आ गये तो लाभ क्या?

उघरहिं बिमल बिलोचन ही के। मिटहिं दोष दुख भव रजनी के।।

(रामचरितमानस, बालकाण्ड, सोरठा 5/7)

भव-रजनी के दुःख-दोष मिट जायेंगे। इतना ही नहीं, '**सूझहिं राम चरित मनि मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक।।**' *(रामचरितमानस, बालकाण्ड, सोरठा 5/8)*– रामचरितमानस के प्रति सूझ पैदा हो जायेगी कि इसमें लिखा क्या है? पुस्तक पढ़ने का अर्थ यह नहीं कि हम उसे रट डालें या कण्ठस्थ कर लें। रामचरितमानस पढ़ने का विशुद्ध तरीका है कि गुरु का चरण हृदय में स्थायित्व ले ले। इससे वह रामचरित जो गुप्त है, लिखने में नहीं आ सका अथवा '**जो जेहिं खानिक**'– उन पारब्रह्म परमात्मा के अन्तराल में जो भी रहस्य छिपा है, वह भी प्रकट हो जायेगा।

जथा सुअंजन अंजि दृग, साधक सिद्ध सुजान।
कौतुक देखत सैल बन, भूतल भूरि निधान।।

(रामचरितमानस, बालकाण्ड, दोहा 1)

वह सारा कौतुक एक जगह बैठे-बैठे देख लेंगे। परमात्मा का स्वरूप हृदय में देखने में आता है, अन्य कोई तरीका ही नहीं है। साधक चित्त को हृदय-देश में स्थिर कर '**सब जग देखे**'– प्रभु की सारी लीलाएँ देख लेगा और जब तक बाहर भटक रहा है तो कुछ भी नहीं है। इस लीला-दर्शन का परिणाम?

उलटा बान पारधिहिं लागे, सूरा होय सो जूझै।
सन्तो! जागत नींद न कीजै।।

परावाणी ही बाण है, ध्यान ही धनुष है। जब परावाणी पराकाष्ठा पर पहुँची तो बाण उलटकर पारधी अर्थात् शिकारी को ही, उस भजनकर्ता को ही लग जाता है, सेवक सदा के लिए खो जायेगा और स्वामी ही शेष बचेगा। **'जानत तुम्हहि तुम्हइ होहि जाई।'**– उसे जानकर साधक भी वही हो जायेगा। सेवक सदा के लिए शान्त हो जायेगा। जीव की संज्ञा मिट जायेगी, परमात्मा का सहज स्वरूप ही बचेगा किन्तु यह कायरों का रास्ता नहीं है। **'शूरा होय सो जूझै'**– जो शूरवीर होते हैं वही इसमें जूझ पाते हैं अन्यथा कोई काम से मरता है, कोई क्रोध से, कोई लोभ से तो कोई मोह से। जो अपनी टेक का, प्रण का पक्का है वही इस युद्ध में सफलता प्राप्त करता है। जूझने का यह अर्थ नहीं कि वह वीरगति को प्राप्त होता है बल्कि वह प्रभु की प्रभुता पा जाता है। इसीलिए महापुरुषों ने ईश्वर-पथ को शूरवीरों का पथ माना है। सम्पूर्ण रामायण राम-रावण का विकराल युद्ध, महाभारत युद्ध-काव्य, गीता का युद्ध अन्तःकरण की लड़ाई है। इसमें जो एक बार विजय पा गया तो शाश्वत विजय है। कबीर इसी पर बल देते हैं कि शूर ही इस पथ पर चल पाता है और जहाँ वह जूझा, आत्मस्वरूप को पा गया।

'गायन कहे कबहुँ नहिं गावे'– लगनशील साधक स्वल्प अभ्यास के उपरान्त जिह्वा से राम-राम या ओम्-ओम् नहीं कहता; वाणी से तो नहीं कहता किन्तु हृदय से, श्वास से, सुरत से निरन्तर जपता रहता है। ईश्वरीय ध्वनि हर समय प्रसारित रहती है– **'अनबोला नित गावै'**।

हृदयाकाश में तरह-तरह के दृश्य दिखाई देते हैं, ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं। एक अन्य पद में सन्त कबीर कहते हैं–

रस गगन गुफा में अजर झरै।
बिनु बाजा झंकार उठे तहँ, समुझि परै जब ध्यान धरै।

सन्त कबीर के समय में कलावन्त नट हुआ करते थे जो तरह-तरह के स्वांग, दृश्य उपस्थित करते, मनमोहक वाद्य प्रस्तुत करते थे। आश्चर्यजनक दृश्यों, ध्वनियों को भी जनसमाज नटों के करतब मानकर आनन्द लेता था।

इसी तरह साधक इन दृश्यों, ध्वनियों को **'नटवट बाजा पेखनि पेखै'**- हृदयाकाश के पेखनि अर्थात् दृश्यों और बाजा अर्थात् ध्वनियों को सुनता है तथा **'अनहद हेत बढ़ावै'**। हद कहते हैं सीमा को। आज आप भजन में दो घण्टा, दस घण्टा, बारह घण्टा– जितना भी समय देते हैं एक नियत सीमा के अन्तर्गत है। उन्नत अवस्था में एक समय ऐसा आता है कि–

जागत में सुमिरन करे, सोवत में लव लाय।
सुरत डोर लागी रहे, तार टूटि ना जाय।।

जब तक जग रहे हैं, सुमिरन करते रहें। सोने के पहले चरणों में लव लग जाय तभी निद्रालाभ करें। सोकर उठें तो सुरत वहीं लगी मिले। जब संकल्प आये तो नाम का, और दृश्य आयें तो गुरु महाराज के चरण दिखाई पड़ें। इस प्रकार भजन मापतौल से ऊपर उठ जाने को अनहद कहते हैं, अब उस भजन की हद नहीं है। **'अनहद हेत बढ़ावै'**– जब तक प्राप्ति न हो जाय इस अनहद से प्रीति बढ़ायें। अनहद की यह प्रीति अनहद, अनन्त परमात्मा से मिला देगी।

'कथनी बदनी निजुकै जोहे'– जो कुछ कथनी करते हैं, अपनी करें। अपने मन का ही निरीक्षण-अध्ययन करना चाहिए कि मैंने कल कितना भजन किया, आज कितना हुआ? कल की अपेक्षा आज भजन कम तो नहीं हुआ? मेरी दृष्टि कहाँ फिसल गयी? सचेतावस्था का विस्मरण कितना हुआ? इसका आकलन करते रहें। दूसरों की कथनी-करनी कैसी है, इसे न देखें। दिनभर किसी बुरे व्यक्ति की बुराई का चिन्तन करते-करते आप स्वयं बुरे हो जायेंगे। आपका मन उसकी बुराई रटता रहेगा और आपमें बुराइयों के संकल्पों की रील बनती जायेगी। संभव है कि उन कुसंस्कारों को काटने में आपको हफ्तों, महीनों लग जायँ। इसलिए साधक का दायित्व है कि **'कथनी और बदनी'**, **'निजुकै जोहे'**– अपनी ही करे और अपनी ही देखे कि अपने कृत्यों में मैं खरा तो हूँ! कहीं दाहिने-बायें कोई गुंजाइश तो नहीं निकाल लिया! जैसा आदेश वैसा पालन हुआ कि नहीं! यह देखते बन गया

तो '**यह सब अकथ कहानी**'– यह कैसे देखा जाता है? किस तुला पर तौला जाता है? यह सब अनुभवगम्य है, अकथ कहानी है। यह वाणी का विषय नहीं है। जिसके हृदय में सद्गुरु जागृत हैं, वह जानता है। केवल उन्हें देखते रहें, आदेश का पालन करते रहें।

धरती उलटि अकासहिं बेधे।

'**धड़ धरती का एकै लेखा, जो बाहर सो भीतर देखा।**'– धड़ कहते हैं शरीर को और धरती इस पृथ्वी को कहते हैं। दोनों की एक ही प्रकृति है इसलिए जो बाहर दृष्टिगोचर होता है, सब इस शरीर के भीतर भी दिखाई पड़ता है–

विटप मध्य पुतरिका सूत महँ कंचुकि बिनहिं बनाये।
मन महँ तथा लीन नाना तनु, प्रकटत अवसर पाये॥

(विनयपत्रिका, 124)

चराचर जगत् विधाता की सृष्टि मन के अन्तराल में है इसलिए '**धरती उलटि**'– चित्त को सब ओर से समेटकर जो हृदय-देश में स्थायित्व ले लेता है; '**अकासहिं बेधे**'– आकाश कहते हैं शून्य को! चित्त इतना निरुद्ध हुआ कि यह संकल्प-विकल्प से रहित हो शून्य में टिकने की क्षमता पा गया। यही आकाश को बेधना है। हृदय के अन्दर चित्त को नहीं समेटेंगे तो यह आकाश को कभी नहीं बेधेगा। '**जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई।**'– एक इच्छा की पूर्ति होते ही मन अनन्त इच्छाओं का सृजन कर ले जायेगा इसलिए चित्त का निरोध ही श्रेयस्कर है। '**यह पुरुषन की बानी**'– यह पुरुषत्व प्राप्त करा देनेवाली सत्पुरुषों की वाणी है। इसलिए संतो! यदि जग गये हो तो निद्रा का प्रमाद न कर लेना। जगत् ही रात्रि है– '**या निशा सर्वभूतानां**'; इसके किसी पहलू का स्पर्श न कर लेगा। अब संयम में भूल न कर लेना।

मान लें, किसी ने धरती को उलटा, आकाश को बेधा, कथनी-बदनी अपनी किया, पारधीवाला बाण लगा, स्वयं जूझ गया – उससे लाभ? इस पर सन्त कबीर कहते हैं–

बिना पियाला अमृत अँचवै, नदी नीर भरि राखै।

वह बिना किसी सहयोग के अमृतपान करता है। अमृत कोई घोल पदार्थ नहीं होता। मृत कहते है नाशवान् को, मरणधर्मा को। अमृत वह है जो शाश्वत है, अजर-अमर है, सहज है, अनन्त सुख की राशि है। मृत्यु से परे वह सत्ता केवल परमात्मा है। जहाँ चित्त का निरोध हुआ, साधक ब्रह्म-पीयूष की धारा पा जाता है। वह '**अमृत अँचवे**'- स्वयं छक जाता है, परिपूर्ण हो जाता है। इतना ही नहीं, '**नदी नीर भरि राखै**'– अमृत को नदी की धारा की तरह भरकर रखता है कि कोई प्यासा आवे तो उसे भी पिला सके। जल सीमित रहने पर वितरण में संकोच हो सकता है किन्तु प्राप्ति के पश्चात् महापुरुष के पास भगवत्ता का अक्षय स्रोत होता है जिसे लाखों व्यक्तियों में एक साथ वितरित कर भी वह परिपूर्ण ही रहता है। इसी को उपनिषदों में कहा गया है– '**ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवा-वशिष्यते।**' पूर्ण में से पूर्ण दान देने पर भी पूर्ण ही शेष बच रहता है जैसे शून्य में शून्य जोड़ने या घटाने पर शून्य ही बच रहता है– '**खाय न खूँटे चोर न लूटै, दिन दिन बढ़त सवायो।**'। लाखों आदमी एक महापुरुष से कुछ माँगे, स्तर के अनुसार एक साथ सबकी पूर्ति और एक साथ ही सबको अमृत का संचार मिलता है।

कह कबीर वह जुग जुग जीवै।

सन्त कबीर कहते हैं, वह युग-युगान्तरों तक जीवित रहेगा अर्थात् अनन्त जीवन प्राप्त कर लेगा। कौन?- जो '**नाम सुधारस चाखै**'। गुरुनानक भी कहते हैं–

राम नाम उर में गयो, ताके सम नहिं कोय।
जा सुमिरत संकट मिटे, दरस तिहारो होय।।

परमात्मा ही अविनाशी अमृत है, मृत्यु से परे है और उसके दर्शन की कुंजी नाम है। '**नाम लेत भव सिन्धु सुखाहीं। करहु विचार सुजन मन माहीं।।**' *(रामचरितमानस, 1/24/4)*– नाम के प्रभाव से भव-समुद्र सुख

जाता है। जहाँ भवसागर सूख गया, आवागमन का कारण मिट गया, जिसमें विषयरूपी विष था समाप्त हो गया, तो परमात्मा, जो अमृत तत्त्व है, वही शेष बच रहता है अर्थात् उस अविनाशी अकाल पुरुष को प्राप्त करने का सूत्र नाम है।

नाम पर सन्त कबीर ने बार-बार बल दिया है। नाम अमृत रस का प्याला है–

पिवत नाम रस प्याला मन मोर भयो मतवाला।
बिन कर चले जपे बिन जिह्वा, ऐसी अजपा माला।।
हरदम दमदम तार न टूटे, पिवत बंक करि नाला।
मन मोर भयो मतवाला।।

नाम रसायन जिसने भी पिया, वह मतवाला हो जाता है। प्रायः लोग नाम जपते हैं तो हाथ से माला जपते हैं अथवा जिह्वा से उच्चारण करते हैं किन्तु अमृत रस का प्याला जिसमें झरता है वह नाम न तो माला और न जिह्वा से जपा जाता है। वह **'बंक नाल'**– स्वाँस की टेढ़ी नली पर निर्भर करता है। उसे पीने का समय क्या है? **'हरदम, पल-पल तार न टूटै'**– सुरत उसमें लगी रहे, जैसे नयी ब्यायी गाय को कोई जंगल में बलात् ले जाय, दिनभर वह रँभाती रहेगी, उसकी दृष्टि अपने बछड़े पर रहेगी; इसी प्रकार दृष्टि आराध्य पर लगी रहे तो उसी का सत्परिणाम है कि वह उस अमृतत्व को प्राप्त कर लेगा। इसलिए सन्तो! यदि जग गये हैं तो निद्रा का प्रबन्ध न कर लेना क्योंकि साधक से भूल होते ही माया **'शृंगी की भृंगी करि डारी, पारासर के उदर विदार।'**। हर महापुरुष के समक्ष यह समस्या आयी है, बन्धन छूटने के समय माया विघ्न करती ही है। सदैव सचेत रहना जागरण है, विस्मृत होना सोना है इसलिए साधक को सदैव विचारयुक्त होना चाहिए।

!! बोलिये सद्‌गुरुदेव भगवान की जय !!

अमृतवाणी

(कैसेट संख्या– 5:2)

मन मस्त हुआ तो क्यों डोले।

मन मस्त हुआ तो क्यों डोले॥
हीरा पाया धरि गठियाया, बार-बार फिर क्यों खोले।
मन मस्त हुआ तो क्यों डोले॥
हंसा पाया मानसरोवर, ताल तलैया क्यों डोले।
मन मस्त हुआ तो क्यों डोले॥
हलकी थी तो चढ़ी तराजू, पूर भई तब क्यों तोले।
मन मस्त हुआ तो क्यों डोले॥
सुरत कलारी भइ मतवारी, मदवा पी गयी बिन तोले।
मन मस्त हुआ तो क्यों डोले॥
कहत कबीर सुनो भाई साधो, साहब मिलि गये तिल ओले।
मन मस्त हुआ तो क्यों डोले॥

साधक लाख भजन करे, यदि हृदय से भगवान की सहायता नहीं मिलती तो मन किस बात पर मस्त होगा? हमारी प्रार्थना ऐसी हो कि जिस परमात्मा की हमें चाह है, जिस सतह पर हम हैं वह प्रभु अपनी ऊँचाई से उतरकर हमारी आत्मा से अभिन्न होकर जागृत हो जायँ, हमारा मार्गदर्शन करने लगें। उन्हीं के निर्देशन में चलकर भक्त वहाँ तक की दूरी तय कर लेता है। यह अनुभवी सद्गुरु के द्वारा ही सम्भव है।

जो आनन्द सिन्धु सुखरासी। सीकर तें त्रैलोक सुपासी॥
सो सुखधाम राम अस नामा। अखिल लोकदायक बिश्रामा॥

(रामचरितमानस, 1/196/6)

प्रभु जब कृपा करते हैं, **'सीकर तें त्रैलोक सुपासी'**– वे एक बूँद कृपा कर दें तो तीनों लोकों में सुपास हो जाता है। उसके लिए सृष्टि में कहीं कोई उलझन, कोई अवरोध नहीं रह जाता। माया में ऐसी शक्ति नहीं कि उसे रोक ले।

वह आनन्द-सिन्धु हैं, सुख की राशि हैं। राम के जीवन में दुःख है ही नहीं; किन्तु उनके जीवन पर दृष्टिपात् करें तो आप पायेंगे कि उनका सम्पूर्ण जीवन दुःखमय व्यतीत हुआ। राम का जन्म हुआ। उन्होंने अभी होश सँभाला ही था कि महर्षि विश्वामित्र उन्हें वन में ले गये। उन्हें दुर्दान्त राक्षस सुबाहु एवं ताड़का से लड़ा दिया। स्वयंवर में सफलता मिली, राज्याभिषेक का अवसर आया तो मन्थरा गले पड़ गयी। उन्हें चक्रवर्ती का पद मिलनेवाला था कि चौदह वर्षों के लिए वनवास मिला, दर-दर भटकना पड़ा। वनवास तो था ही, ऊपर से सीता चोरी चली गयी। राम 'हाय सीते', 'हाय मृगलोचनी' करते रह गये। रावण मारा गया। राम अयोध्या के सिंहासन पर विराजमान हुए तो एक धोबी ने लांछन लगा दिया। राम ने मर्यादा पर विचार कर सीता का परित्याग कर दिया।

महर्षि वाल्मीकि के प्रयास से सीता के पक्ष में प्रबल जन-समर्थन उठ खड़ा हुआ, धोबी का षड्यन्त्र विफल हो चला। राम ने सीता को पुनः अपनाने का निर्णय लिया, उन्होंने अनुरोध किया, "सीते! मैं जानता था कि तुम निर्दोष और निर्मल हो, आदिशक्ति हो, चिन्मय हो। लोकापवाद का परिमार्जन करने के लिए राजधर्म के अनुसार हमने तुम्हें वन में भेजा जिससे जनता में कोई कुरीति न फैले। राजधर्म का पालन कठोर होता है किन्तु अब तुम्हारे जीवन में कष्ट नहीं है। चलो, सिंहासन की शोभा बढ़ाओ।" राम ने आदेशों का ताँता लगा दिया किन्तु सीता देखते-देखते पृथ्वी में समा गयीं। राम अथाह दुःख-सागर में डूब गये।

एकाकी जीवन व्यतीत करते हुए एक भूल पर उन्होंने लक्ष्मण का परित्याग कर दिया। लक्ष्मण ने सरयू तट पर आमरण अनशन कर प्राण त्याग

दिया। राम इस आघात को सहन न कर सके कि जब भाई ही न रहा तो प्राण रखकर क्या करेंगे? प्रिय भक्तों के साथ राम भी सरयू में समाहित हो गये। राम के जीवन का आरम्भ दुःख से था और मध्य तथा अन्त भी दुःखों से परिपूर्ण था किन्तु महर्षि वशिष्ठ ने उनका नामकरण ही इसी आधार पर किया कि जो आनन्द के समुद्र हैं (नदी-नाला मात्र नहीं), परम सुख की राशि हैं, उस आनन्द की मात्र एक बूँद से तीनों लोकों को परमशान्ति मिल जाती है। **'सो सुख धाम राम अस नामा।'** वह सुख के धाम हैं इसलिए उनका नाम राम है। जैसा महर्षि वशिष्ठ ने कहा, वैसा कार्यक्षेत्र में नहीं पाया गया।

वस्तुतः यह मानस-कथा है, अन्तःकरण की कहानी है। **'रमन्ते योगिनः यस्मिन् स राम'**– जिसमें योगी लोग रमण करते हैं, उसका नाम राम है। योगीजन किसमें रमण करते हैं?–

जद्यपि ब्रह्म अखण्ड अनन्ता। अनुभवगम्य भजहिं जेहि सन्ता।।

(रामचरितमानस, 3/12/12)

वह ब्रह्म अखण्ड है, अनन्त है किन्तु अनुभव के द्वारा गम्य है, जाना जा सकता है। अस्तु, अनुभव के आश्रित जो भजते हैं, वही सन्त हैं। यदि अनुभव जागृत नहीं हुआ तो निवृत्ति दिलानेवाली साधना अभी आरम्भ ही नहीं हुई। 'विज्ञानरूपी राम'– अनुभव का ही दूसरा नाम विज्ञान है। मन चंचल है, वायु से भी तेज चलनेवाला है किन्तु हृदय में भगवान का आदेश पा गया तो मन मस्त हो जाता है, स्थिर हो जाता है, फिर इसमें डगमग नहीं रहता।

'मन मस्त हुआ तो क्यों डोले!'– मन किसलिए डोलेगा? क्या खोजने के लिए संकल्प करेगा, जब उस प्रभु से बड़ी सत्ता है ही नहीं! **'हीरा पाया धरि गठियाया, बार बार फिर क्यों खोले।'** उन महापुरुष ने परमात्मा को हीरे की संज्ञा दी है। हीरा एक रत्न है। ऐसा बहुमूल्य रत्न पाने पर बार-बार उसे देखने, परखने या उसका मूल्य आँकने की आवश्यकता नहीं रह जाती। अब उसे कमी किस वस्तु की?

हंसा पाया मानसरोवर, ताल-तलैया क्यों डोले।

अध्यात्म में संत को हंस कहते हैं– '**संत हंस गुन गहहि पय, परिहरि बारि बिकार।**' *(रामचरितमानस, 1/6)*। वे सन्त हंस हैं जो ईश्वरीय गुणरूपी दूध ग्रहण कर लेते हैं और मायारूपी वारि का त्याग कर देते हैं। जब साधक में यह क्षमता आ जाय कि ईश्वरीय गुणों के बाहर जीवन ही न धारण कर सके तो वह हंस की स्थितिवाला है। मछली को जल से बाहर रखें तो क्या वह जीवित रहेगी? असम्भव! ठीक इसी प्रकार हंस का भोजन दूध या मोती है अन्यथा वह प्राण त्याग देता है। संत भी ईश्वरीय गुणरूपी दूध को ग्रहण कर लेते हैं और विषयरूपी वारि का सदा के लिये त्याग कर देते हैं। हंस मोती चुगने के लिए मानसरोवर पा गया, संत मन के अन्तराल में ईश्वरीय प्रवाह पा गया तो वह ताल-तलैया अर्थात् क्षुद्र वस्तुओं में क्यों भटकेगा? '**राम सिन्धु घन सज्जन धीरा**'– उस सिन्धु को पा गया, प्रभु का स्वरूप पा गया तो क्षुद्र वस्तुएँ उसे आकर्षित नहीं कर पातीं।

'**हलकी थी तब चढ़ी तराजू**'– जब साधना क्षीण थी तब भक्त को शिक्षा की कसौटी पर चढ़ने को मिलता है किन्तु साधना परिपूर्ण होते ही न माया परीक्षक के रूप में रह गयी और न आगे पाने को ही कुछ रह गया इसलिए माप-तौल की आवश्यकता ही नहीं रह जाती – '**पूर भयी तब क्यों तोले।**'

'**सुरत कलारी भइ मतवारी**'– भजन में सुरत का बड़ा महत्व है। मन की दृष्टि का नाम सुरत है। आप यहाँ बैठे हैं, अकस्मात् आपको याद आ जाय कि घर का दरवाजा तो खुला ही रह गया। न जाने कौन आ जाय? क्या छू ले! आप बैठे तो यहाँ हैं किन्तु घर का ताला, घर की सामग्री दिखाई पड़ने लगेगी; कारण कि न तो ये आँखें देखती हैं न ये कान सुनते हैं। इनके पीछे जो विचार हैं, उन्हीं के माध्यम से वस्तुएँ दिखाई और ध्वनि सुनाई पड़ती है। वस्तु नहीं है किन्तु मन वस्तु का नक्शा खड़ा कर लेता है, इस दृष्टि का नाम सुरत है। इसी दृष्टि से भजन किया जाता है जब संसार की सारी भावनाएँ शान्त हो जायँ, एक ईश्वर और नाम का सुमिरन मात्र शेष रह जाय!

भजन एक नशा है। जड़भरत जब मस्त हो गये तो उन्हें आगे-पीछे कुछ दिखाई नहीं पड़ा। मीरा मस्त हो गयीं तो उन्हें यह भान समाप्त हो गया कि लोग हमें क्या कह रहे हैं! **'लोग कहै मीरा भइ बावरी, सास कहै कुलनाशी रे!'** सास ने कहा– इसने कुल में कलंक लगा दिया, लोगों में चर्चा थी कि मीरा पागल हो गयी। उस कुलवन्ती सास को आज कोई नहीं जानता, जबकि मीरा को विश्व जानता है। सूफी सन्तों का भी यही निर्णय था–

न मर भूखा न रख रोजा, न जा मस्जिद न कर सिजदा।
वजू का तोड़ दे कूजा, शराबे शौक पीता जा॥

भौतिक शराब का नशा तो क्षणिक है। कोई अभी पी ले तो कुछ समय पश्चात् उसका नशा उतर जायेगा किन्तु भजन का नशा ऐसा है कि साधक जब तक भगवत्ता को नहीं प्राप्त कर लेगा तब तक उत्तरोत्तर उसकी लगन बढ़ती जायेगी, उसकी खुमारी घटेगी। नहीं,

सभी नशे संसार के, उतर जायँ परभात।
नाम खुमारी नानका, चढ़ी रहे दिन रात॥

संत कबीर ने सुरत को कलारी अर्थात् मद्य परसनेवाली कहा। मन की दृष्टि सुरत सब ओर से सिमटकर जिसका चिन्तन कर रही है, उसी को देखती रहे, उन्मत्त की तरह एक ही धुन रहे, वह **'मदवा पी गयी बिन तोले'**– कोई सौ, दो सौ ग्राम पीता है तो कोई पूरी बोतल पी जाता है किन्तु यहाँ तो सुरत ने नाप-तौल से भी अधिक पी लिया है। असीम अतुलनीय तो केवल एक परमात्मा है। सुरति ने ब्रह्मपीयूष पा लिया, भक्त भजन का नशा पा गया, अतएव माया भी नष्ट हो गयी, तौलने में आ गयी। माया क्षणिक है। परमात्मा ही असीम है, अखण्ड है। कबीर कहते हैं– हमने उस भक्ति का नशा पा लिया। सुरत ज्यों-ज्यों लगती जायेगी, ईश्वरीय गुणों का संचार बढ़ता जायेगा और भजन के नशे में मतवाले होते चले जायँगे। फिर आनन्द के लिए दाहिने-बायें झाँकने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

महर्षि अगस्त्य के शिष्य सुतीक्ष्ण की सुरत इसी प्रकार लग गयी थी। उन्हें सुनाई पड़ा कि प्रभु आ गये तो वे अपने भाग्य को ही कोसने लगे–

हे बिधि दीनबंधु रघुराया। मोसे सठ पर करिहहिं दाया।।

(रामचरितमानस, 3/9/4)

वे दीनबन्धु प्रभु क्या मुझ जैसे मूर्ख पर भी दया करेंगे?–

मोरे जियँ भरोस दृढ़ नाहीं। भगति बिरति न ग्यान मन माहीं।।
नहिं सत्संग जोग जप जागा। नहिं दृढ़ चरन कमल अनुरागा।।

(रामचरितमानस, 3/9/7)

एक तो मेरे हृदय में दृढ़ भरोसा नहीं है, न सत्संग है न योग है, न जप है और न उनके चरण-कमल में स्थिर अनुराग ही है! तब किस भरोसे आप प्रतीक्षा कर रहे हैं?–

एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की।।

(रामचरितमानस, 3/9/8)

प्रभु की एक मर्यादा है कि उन्हें वह प्रिय होता है जिसे किसी अन्य का भरोसा नहीं है। मुझे भी वास्तव में प्रभु के अतिरिक्त अन्य किसी का भरोसा नहीं है, इसलिए

होइहैं सुफल आजु मम लोचन। देखि बदन पंकज भव मोचन।।

(रामचरितमानस, 3/9/9)

'आज अवश्य ही मेरे नेत्र सफल होंगे।' जहाँ इतना विश्वास मन में हुआ,

दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा। को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा।।

(रामचरितमानस, 3/9/11)

मुनि को दिशाओं का भी बोध न रहा कि पूरब किस ओर, पश्चिम किधर? मैं कौन हूँ, कहाँ जा रहा हूँ?– किसी से पूछा भी नहीं!

कबहुँक फिरि पाछे पुनि जाई। कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई।।

(रामचरितमानस, 3/9/12)

वे कभी पीछे घूमते और आगे चलते हैं, तो कभी प्रभु के गुणों का गायन कर नृत्य करने लगते हैं।

अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई। प्रभु देखैं तरु ओट लुकाई।।

(रामचरितमानस, 3/9/13)

अविरल भक्ति– जिसका क्रम कभी न टूटे, वह भक्ति जो लक्ष्य तक पहुँचाकर ही दम ले, ऐसी प्रेमाभक्ति मुनि ने प्राप्त कर ली।

अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा। प्रगटे हृदयँ हरन भव भीरा।।

(रामचरितमानस, 3/9/14)

अत्यन्त प्रेम देख प्रभु मुनि के हृदय में प्रकट हो गये। जहाँ हृदय में स्वरूप आया तो वे ध्यानस्थ होकर बैठ गये–

मुनि मग माझ अचल होइ बैसा। पुलक सरीर पनस फल जैसा।।

(रामचरितमानस, 3/9/15)

मग अर्थात् अरण्य की पगडंडी में नहीं बल्कि भक्ति-पथ में अचल होकर बैठ गये। भगवान ने उन्हें जागृत करने का उपक्रम किया। मुनि सचेतावस्था में आ गये। उन्होंने देखा, बाहर भी वही स्वरूप था जो हृदय में था। साधक की भक्ति से भगवान जब द्रवित होते हैं तो हृदय में स्वरूप को भली प्रकार जगा देते हैं। अस्तु, हम सबको उतना ही श्रम करना है जितना सुतीक्ष्ण ने किया।

संत कबीर ने सुतीक्ष्ण की इसी मस्ती का चित्रण अपनी शैली में किया है। **'सुरत कलारी भई मतवारी, मदवा पी गई बिन तोले'**– सुरत लगाते-लगाते जब लौ लग ही गयी तो इष्ट के अतिरिक्त अन्य कोई संकल्प-विकल्प, तर्क-कुतर्क नहीं रह जाता। हृदय में स्वरूप आ जाने के पश्चात् मन की रहनी का यह चित्रण है।

अन्त में सन्त कबीर बताते हैं कि साधक को मिला क्या? उन्हीं के शब्दों में देखें–

कहत कबीर सुनो भाई साधो, साहब मिली गये तिल ओले॥

छोटा-सा काला तिल ध्यान केन्द्र का सम्बोधक है। चित्त सब ओर से सिमटकर इतना सूक्ष्म हो गया जितना तिल! अब भले-बुरे संकल्प चित्त में पैदा नहीं होते, जिस क्षण यह चित्त स्थिर हुआ। इस चिन्तन की ओट में जो वस्तु छिपी है, उसका नाम परमात्मा है, साहब है, स्वामी है, आत्मदर्शन और स्थिति है। चित्त जब तक इतना सूक्ष्म न हो जाय तब तक साधक को संतुष्ट नहीं होना चाहिए, भजन में उत्तरोत्तर प्रवृत्ति बनी रहनी चाहिए। जब कभी किसी ने परमात्मा को पाया है, भजन करके पाया है।

भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं कि अर्जुन! इस कर्म को किये बिना न किसी ने परमात्मा को पाया है और न भविष्य में प्राप्त कर सकेगा। किन्तु कर्म के परिणामस्वरूप जहाँ आत्मा विदित हो गयी, साधक आत्मा से ओत-प्रोत है, आत्मा में स्थित है उस पुरुष के लिए कर्म किये जाने से न कोई लाभ है और न कर्म छोड़ देने से कोई हानि; परन्तु ऐसी अवस्थावाले महापुरुष भी पीछेवालों के हित की इच्छा से भली प्रकार क्रिया में बरतते हैं, स्वयं करते हुए उनसे करवाते हैं क्योंकि जब किसी ने पाया है तो करके ही पाया है। इसलिए भजन नितान्त आवश्यक है। जब तक चित्त स्थिर न हो जाय, अचल स्थिर न ठहर जाय, **'तिल ओले'** तिल बराबर एक सूक्ष्म अवस्था पर केन्द्रित न हो जाय, तब तक साहिब नहीं मिलते।

!! बोलिये सद्‌गुरुदेव भगवान की जय !!

अमृतवाणी

(कैसेट संख्या– 6:1)

पनघट पर गगरिया फूटल हो।

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥ (गीता, 9/33)

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि सुखरहित, क्षणभंगुर किन्तु दुर्लभ मानव-शरीर को पाकर मेरा भजन कर! अर्थात् भजन करने का अधिकार उन सबको है जिसे मनुष्य शरीर उपलब्ध है; पशु को नहीं, पक्षी को नहीं, अन्य किसी को भी नहीं। परमात्मा राम कहते हैं– **'नर तन भव बारिधि कहुँ बेरो।'** *(मानस, 7/43/7)*– मनुष्य-शरीर भवसागर से पार होने के लिए जहाज है, एक उपाय है। इसी आशय का सन्त कबीर का एक भजन इस प्रकार है–

पनघट पर गगरिया फूटल हो।
कौनो ठगवा नगरिया लूटल हो॥

चन्दन खाट का बना खटोलना, तापर दुलहिन सुतल हो॥
पनघट पर गगरिया.........॥

हाड़ जरे जस लाकड़ी, केश जरे जस घास।
सब जग जलता देख के, भया कबीर उदास॥

उठो री सखी मोरि माँग सँवारो, प्रियतम मो सन रुठल हो॥
पनघट पर गगरिया.........॥

चलती चकिया देख के, दिया कबीरा रोय।
दो पाटन के बीच में, साबित बचा न कोय॥

आये जमराज पलँग चढ़ि बैठे, चहुँ दिशि धू धू उठल हो॥
पनघट पर गगरिया.........॥

घर द्वारे तक औरत जइहैं, करमकाण्ड तक भाई।
लोग कुटुम्ब मरघट लौं जइहें, हंस अकेला जाई।।
कहत 'कबीर' सुनो भाई साधो, जग से नाता टूटल हो।।
पनघट पर गगरिया.........।।

सन्त कबीर का यह एक चेतावनी पद है। उनका कोई भजन साधना की शुरुआत का है, कोई साधना में मिलनेवाली विभूतियों का चित्रण करता है तो किसी-किसी भजन में प्राप्ति के पश्चात् महापुरुष की रहनी का विवरण है। प्रस्तुत पद अचेत प्राणियों को जागृत करने के लिए चेतावनी के रूप में है।

संसार में सुखी कौन है? इस पर प्रकाश डालते हुए कबीर कहते हैं-

कुशल कहत कहत जग बिनसे, कुशल काल की फाँसी।
कह कबीर सब दुनिया बिनसे, रहे राम अबिनासी।।

संसार में परस्पर कुशलक्षेम पूछने का प्रचलन है। किसी से मिलने पर लोग पूछते हैं- कुशल तो है? उत्तर मिलता है- हाँ, सब ठीक-ठाक है। फसल अच्छी है, नौकरी में प्रमोशन मिल गया, व्यवसाय अच्छा चल निकला- सब कुशल ही तो है। कबीर कहते हैं कि कुशल-कुशल कहते-कहते **'जग बिनसे'**- संसार नष्ट होता जा रहा है। एक दिन युधिष्ठिर चक्रवर्ती सम्राट तो दूसरे दिन हिमालय पर स्वर्गारोहण करते दिखाई पड़े। कभी श्रीकृष्ण विजेता तो एक दिन तीर लगने से प्राण-त्याग दिया। लोग कुशल-कुशल कहते जा रहे हैं और नष्ट भी होते जा रहे हैं। यह क्षुद्र कुशल है। सच कहें तो यह कुशल के रूप में काल की फाँसी है, एक धोखाधड़ी है। कबीर कहते हैं कि सारी दुनिया नश्वर है, केवल **'रहे राम अबिनासी'**- राम ही रहनेवाला है, शाश्वत है, अविनाशी है। उसकी शरण में जाओ, तुम्हारी कुशल वहाँ पर है।

यही चेतावनी कबीर के इस भजन में भी है- **'पनघट पर गगरिया फूटल हो। कौनो ठगवा नगरिया लूटल हो।'**- अनन्त योनियाँ अवघट

घाट हैं, केवल मनुष्य योनि ही भवसागर से पार होने का उपाय है। घाट जल तक जाने के लिए तट का वह स्थल है जहाँ यातायात के साधन सुगमता से पहुँच सकें। जहाँ से जल तक पहुँचने के लिए कोई मार्ग ही नहीं है उसे अवघट घाट कहते हैं। पनघट वह घाट है जहाँ से लोग पीने के लिए जल प्राप्त करते हैं।

सन्त कबीर ने मनुष्य शरीर को पनघट की संज्ञा दी है। भवसिन्धु से पार होने का उपाय न तो पशु-पक्षी, कीट-पतंगादि योनियों में है, न देवता ही पार हो सकते हैं; वे भी मनुष्य शरीर से आशावान हैं। भवसागर से पार होने का कोई उपाय है तो केवल **'नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो।'** *(मानस, 7/43/7)*– मनुष्य शरीर भवसागर से पार होने के लिए जहाज है। तुलसी कहते हैं– पार जाने का बेड़ा है। कबीर कहते हैं– पार जाने का घाट है।

बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रन्थन्हि गावा।।

(मानस, 7/42/7)

यह देवताओं को भी दुर्लभ है। मनुष्य के पास देवताओं से एक वस्तु अधिक है– नर तन! वे जानते हैं कि एक दिन स्वर्ग से उनका पतन निश्चित है। उस दिन भगवान करुणा करके हमें मनुष्य का शरीर प्रदान करें। इन्द्र-पद का दावेदार राजा नृग गिरगिट हो गया। इन्द्र-पद से नहुष गिरा तो अजगर हुआ। इन्द्र-पद का कोई प्रत्याशी भेंड़ा बन गया। स्वर्ग से गिरना है अवश्य! न जाने किस योनि में जाना पड़े। प्रभु कृपा करें कि हमें मनुष्य का शरीर प्राप्त हो।

हम देवता परम अधिकारी। स्वारथ रत प्रभु भगति बिसारी।।

(मानस, 6/109/11)

परम अधिकारी होते हुए भी हम देवता स्वार्थ से विवश होकर आपकी भक्ति को भूल गये। देवता भी विषयों के गुलाम! **'विषय भोग पर प्रीति सदाई।'** *(मानस, 7/117/15)* और अन्त में **'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'** *(गीता, 9/21)*– पुण्य क्षीण होने पर मृत्युलोक में आकर गिरना

और फिर चढ़ना; इस प्रकार देवता भी आवागमन की एक योनि है। लेकिन मनुष्य योनि एक ऐसी योनि है जो आवागमन से मुक्ति दिलाने में सक्षम है। भटकते-भटकते कूकर-शूकर योनियों से चक्कर मारते हुए दुर्लभ मनुष्य शरीर हमें मिल भी गया, हम पनघट पर आ गये किन्तु शरीररूपी घड़ा इतना कच्चा है कि कल तक के लिए भी इसके रहने की गारण्टी नहीं दे सकते–

यह तन काचा कुंभ है, लिये फिरे तू साथ।
ढबका लागा फूट गया, बहुरि न आवे हाथ॥

इसकी क्षणभंगुरता की तुलना कबीर ने पानी के बुलबुले से की है। ऐसा देव-दुर्लभ किन्तु क्षणभंगुर मानव-तन उपलब्ध होने पर भी '**पनघट पर गगरिया फूटल हो**'– यह गगरी धोखे-धोखे में ही फूट गयी। क्या आपने जानबूझकर फोड़ दिया? महापुरुष कहते हैं– नहीं! धोखा हो गया। '**कौनो ठगवा नगरिया लूटल हो**'– जन्म लेते ही सम्बन्ध के धागे जुड़ जाते हैं– यह माता है, यह मौसी है, यह भैया हैं, पापा हैं....। सज्ञान हुए तो यह तुम्हारा यह हमारा! बड़े हुए तो नन्हे-मुन्ने! वरिष्ठ हो गये तो हमारी इज्जत, प्रतिष्ठा! तब तक वह क्षण आ गया जो इस स्वाँस का अन्तिम काल है। सभी सम्बन्धी और हमारी अर्जित उपलब्धियाँ ऐसी बिछड़ीं कि पुनः कभी उनसे मेल नहीं हो सका। यह धोखा नहीं तो क्या है! हमारी वस्तु अनायास हमसे ओझल हो गयी, फिर कभी देखने को नहीं मिली। हमारे हृदय-देश की नगरी को, जहाँ परमात्मा का निवास है, उस संयम की प्रक्रिया को किसी ने लूट लिया– '**कौनो ठगवा नगरिया लूटल हो**'– एक ठगाई हो गयी।

यह शरीर है कैसा? '**चन्दन काठ का बना खटोलना**'– अनन्त योनियों में, सर्वत्र कण-कण में भगवान व्याप्त हैं। '**चन्दन तरु हरि सन्त समीरा।**' *(मानस, 7/119/17)*– भगवान चन्दन-वृक्ष हैं और उस चन्दन की खुशबू चराचर जगत् में, कण-कण में, सबमें व्याप्त है लेकिन किसी शरीर में कभी खुशबू नहीं मिली। प्रभु की खुशबू मिली है तो इस मनुष्य-शरीर के द्वारा ही मिली है। इसी मानव-शरीर में महर्षि अगस्त्य हुए, अत्रि

हुए, महासती अनुसुइया हुईं, मदालसा हुईं, मीरा हुईं, तुलसी हुए। यह मानव-तन इतना दुर्लभ, इतना महत्वपूर्ण कि यह चन्दन काठ का बना है, खुशबू फैलानेवाला है, प्राप्ति करानेवाला है। जब कभी परमात्मा की खुशबू फैली है, इस मनुष्य-शरीर से ही प्रस्फुटित हुई है। **'तापर दुलहिन सूतल हो'**– इस मानव-तन के अन्तराल में आपकी सुरत, भजन करने की लव प्रसुप्त है। अन्य पद में सन्त कबीर कहते हैं–

जाग री! मोरी सुरत सुहागिन जाग री।
का सोवत है मोहनिशा में, उठि के भजनिया में लागु री॥

हमारी इष्टोन्मुखी लौ, सुरत सोई हुई है। इसे जगाना होगा, तभी कल्याण संभव है। प्रायः लोग सोचते हैं कि इस शरीर में खान-पान, रहन-सहन इत्यादि की सारी व्यवस्था अनुकूल दिखायी दे रही है। ऐसी परिस्थिति में सुरत न भी जगे तो हानि क्या है? इसी तरह जीवन काट ले जायँ तो आपत्ति क्या है? इस पर कहते हैं–

हाड़ जरे जस लाकड़ी, केश जरे जस घास।
सब जग जलता देख के, भया कबीर उदास॥

चिता की पहली लपट में बाल घास की तरह झुलस गये, जल गये; हड्डियाँ लकड़ी की तरह जल गयीं। सुन्दर शरीर की ऐसी दुर्दशा! केवल झोपड़ीवाले गरीब जलते हों– ऐसी भी बात नहीं है। चक्रवर्ती राजा-महाराजाओं से रंक तक, देवलोक, ब्रह्मापर्यन्त– सबको उसी घाट पर आते देखकर कबीर उदास हो गये कि जीवनयापन में समय काट लेने से काम नहीं चलेगा। इससे बचने का कोई उपाय करना चाहिए। कौन-सा उपाय?

'उठ री सखी! मोरी माँग सँवारो'– सखी, सखा, मित्र पर्यायवाची शब्द हैं। आदि शंकराचार्य की प्रश्नोत्तरी में है– **'के शत्रवः सन्ति निजेन्द्रियाणि। तान्येव मित्राणि जितानि यानि।'**– सृष्टि में शत्रु कौन है? अपनी इन्द्रियाँ! यही जीव को आवागमन में भटकानेवाली हैं; किन्तु यदि यही जीत ली जाती हैं तो मित्र बनकर मित्रता में बरतती हैं, परमकल्याण को

करनेवाली होती हैं, कैवल्य पद प्रदान करने वाली होती हैं। इसलिए सन्त कबीर अपनी अचेत इन्द्रियों से कहते हैं कि उठो, सचेत हो जाओ, जागो। सदा सजग रहो, चिन्तन में लापरवाही न हो।

'मेरी माँग सँवारो'– मेरी मानसिक प्रवृत्ति को सुधारो! संसार में सिन्दूर सुहाग का प्रतीक मानकर माँग में सँवारा जाता है। माँग परम प्रभु प्रियतम परमात्मा को सन्तुष्ट करने का प्रतीक है। यहाँ माँग सँवारने का आशय मन को सँवारना, शुद्ध करना है; क्योंकि–

निर्मल मन जन सो मोहिं पावा।
मोहिं कपट छल छिद्र न भावा॥

विशुद्ध मनवाले ही परमात्मा को प्राप्त होते हैं। किञ्चित् भी कपट, छल-छिद्र मन में होने पर भगवान नहीं मिलते। यही माँग सँवारने का भी आशय है कि मेरी मानसिक प्रवृत्ति को सुधारो; क्योंकि **'प्रियतम मो सन रूसल हो'**। प्रिय उत्तम स प्रियतम– प्रीति का जो सर्वोपरि केन्द्र है, एक बार उससे सम्बन्ध जुड़ जाने के पश्चात् पुनः जिससे विछोह नहीं होता वह है परमात्मा! वे परम प्रभु मुझसे रूठ गये हैं। उन्हें अनुकूल करने के लिए मानसिक प्रवृत्ति को सँवारें। कहीं धोखे ही धोखे में पनघट पर यह शरीररूपी घट फूट न जाय!

मान लें हमने मानसिक प्रवृत्ति को सुधारना आरम्भ किया; किन्तु यहाँ भी दुविधा हमारा पीछा करती है, संशय बना रहता है कि भौतिक व्यवस्थाएँ सत्य हैं या भगवान?

चलती चकिया देख के, दिया कबीरा रोय।
दो पाटन के बीच में, साबित बचा न कोय॥

कबीर ने संसार की उपमा एक चक्की से दी है जिसका एक पाट ब्रह्म और दूसरा पाट माया है। इन दोनों पाटों के बीच सभी पिस रहे हैं, कोई भी सुरक्षित नहीं है। कभी तो हम सोचते हैं कि यह जगत् सत्य है, सर्वत्र भगवान का ही संचार है, भली प्रकार परिवार में जीवनयापन करते हुए सबकी सेवा

करनी चाहिए। कभी ऐसा देखने में आता है कि हमारे न चाहते हुए भी स्वजन साथ छोड़कर चले जा रहे हैं। कहीं इनमें आसक्ति भूल तो नहीं है? कदाचित् भगवान ही सत्य हैं। इन दो पाटों के बीच की दुविधा की चक्की में कोई सुरक्षित बचा ही नहीं। **'ईस्बर अंस जीव अबिनासी।'** *(मानस, 7/116/2)* – जीव ईश्वर का विशुद्ध अंश है, अविनाशी है इसलिए सर्वथा नष्ट तो नहीं हो सकता; किन्तु यह अधकुचला अवश्य हो जाता है, कुछेक योनियों की परतें घट-बढ़ जाती हैं– यही इसका अधूरापन है। इसी से कोई सुरक्षित नहीं बचा। वे चले कहाँ गये?

आये जमराज पलँग चढ़ि बैठे, चहुँ दिशि धू धू उठल हो॥

ऊपापोह में, संशय और दुविधा में आयु के दिन पूरे हो गये, मृत्यु के देवता यम छाती पर सवार हो गये, जीव को बलात् लेकर चले जाते हैं। पूरा परिवार, स्वजन समुदाय उपस्थित रहकर भी जीव की रक्षा नहीं कर पाता।

आस पास योधा खड़े, सबै बजावत गाल।
मंझ महल से ले चला, ऐसा काल कराल॥

मृत्यु-शय्या के चतुर्दिक योद्धाओं की कतार लगी है। सभी डींग हाँकते हैं कि एक बार हम काल को भी पीछे ढकेल देंगे– इस प्रकार **'सभी बजावत गाल।'** लेकिन सुविधाओं और सुरक्षा-व्यवस्था के मध्य से वह काल-कराल जीव को लेकर चला जाता है। आयु के क्षण पूरे होने पर हर व्यवस्था काल से आवेशित हो जाती है। फिर तो पाँव की पनही भी काल, सुन्दर शय्या काल, उत्तम भोजन काल, सुरक्षा-व्यवस्था काल.....जो कुछ है काल है।

सांसारिक जीवनयापन सत्य है या भजन? यह सही है कि वह सही?– इस दुविधा को हल करते-करते **'आये जमराज पलँग चढ़ि बैठे'**– और फिर **'अँखियों से अँसुआ छूटल हो'**– चारो तरफ रोना-धोना शुरू हो जाता है। **'चहुँ दिशि धू धू उठल हो'**– देखते-देखते सब कुछ विनष्ट हो जाता है। **'पनघट पर गगरिया फूटल हो'**– कितनी दूर यात्रा कर घड़ा

लेकर पनघट पर पहुँच तो गये, जल से भरकर चले नहीं कि गगरी फूट गयी। अब पुनः घर जायँ, गागर की व्यवस्था हो, पुनः घाट पर जाकर जल भरकर सकुशल घर पहुँच जायँ, कितना समय-साध्य, व्यय-साध्य और श्रम-साध्य है? सतत् सतर्कता तो तब भी अपेक्षित है कि पनघट पर गगरी पुनः फूट न जाय! इतना दुरूह है मनुष्य शरीर! अनन्त योनियों का भ्रमण करते-करते दुर्लभ मानव-तन मिला, हम घाट पर तो पहुँचे किन्तु धोखे ही धोखे में आयु के दिन पूरे हो गये। दाँत गिर गये, आँखों में चश्मा लग गया फिर भी केश रँगते जा रहे हैं। घर-परिवार, सुहृद-सम्बन्धी कहाँ तक साथ देते हैं?– इस पर कहते हैं–

घर द्वारे तक औरत जइहैं, करमकाण्ड तक भाई।
लोग कुटुम्ब मरघट लौं जइहें, हंस अकेला जाई॥

जहाँ गगरिया फूटी, यमराज पलंग पर चढ़े, सारी सुख-सुविधाओं के बीच से निकल यह प्राण-पखेरू उड़ा, तब क्या हुआ? पत्नी बहुत जोर मारेगी तो घर के दरवाजे तक 'हाय हमारे देवता, हाय हमारे प्राण, हाय हमारे सर्वस्व!' विलाप करती रह जायेगी; **'करमकान्ड तक भाई'**– सगा भाई अधिक से अधिक भली प्रकार कर्मकाण्ड सम्पन्न कर देगा, वर्ष-दो वर्ष पुण्यतिथि मना लेगा; **'लोग कुटुम्ब मरघट लौं जइहें'**– समाज के लोग श्मशान तक विदा करेंगे कि हमारे क्षेत्र के सम्मानित पुरुष थे, राजनीति का स्तम्भ ही टूट गया, समाज की अपूरणीय क्षति हो गयी, श्रद्धाञ्जलि दी और लौट गये। अब **'हंस अकेला जाई'**– इसके पश्चात् जीवात्मा इस हंस को अकेला ही जाना है। वहाँ पर आपके साथी मात्र भगवान हैं, अन्य कोई नहीं। इसलिए हर साधक को, हर मनुष्य को स्वाँस के रहते इतना अवश्य कर लेना चाहिए कि आत्मा अनुकूल हो जाय, वह हमारी मार्गदर्शक हो जाय। इसके पश्चात् तो–

करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥

(मानस, 3/42/5)

भगवान राम कहते हैं कि सबसे सम्बन्ध तोड़कर जो सचमुच मुझसे हृदय से सम्बन्ध जोड़ लेता है, मैं उसकी रक्षा सदैव उसी प्रकार करता हूँ जैसे छोटे शिशु की रखवाली माता करती है। सांसारिक माताएँ झोपड़ी या सीढ़ियों की ओट में बालक की भली प्रकार रक्षा भी नहीं कर पातीं। ओट में वह सर्प से लिपट सकता है, अग्नि में गिर सकता है क्योंकि वहाँ तक उनकी दृष्टि नहीं पहुँच रही है; किन्तु भगवान एक ऐसी माता हैं जिनकी दृष्टि सर्वत्र है। वह कण-कण में व्याप्त हैं, सब जगह से देखते हैं, सर्वत्र से सुनते हैं, वह सब जगह से हाथ-पैरवाले हैं। जब वही रक्षक के रूप में खड़े हो गये तो मारेगा कौन? जीव के वही वास्तविक साथी हैं; क्योंकि जिनको हमने अपना माना था, उन सबका साथ छूट गया, सबसे सम्बन्ध विच्छेद हो गया, हंस को अकेले जाना है। पाप का संग्रह पतन के गर्त में ले जाता है, अनन्त योनियों का भ्रमण कराता है। अधःपतन का नाम पाप है। पुण्य उसे कहते हैं जो पूर्णत्व प्रदान कर दे। मृत्यु के उपरान्त **'इसके आगे भजन ही है साथी, भजन के बिना तू अकेला रहेगा।'** यदि आपके साथ भजन नहीं है तो आप नितान्त अकेले हैं, वहाँ आपका कोई सम्बल नहीं है। इसलिए,

कहत 'कबीर' सुनो भाई साधो, जग से नाता छूटल हो॥
पनघट पर गगरिया.........॥

सन्त कबीर कहते हैं कि जिस जगत् को हम कभी छोड़ना नहीं चाहते थे, जिन्हें देखे बिना जीना नहीं चाहते थे, उन मासूम बच्चों से, उस फुलवारी से, प्रिय परिवार, परम हितैषियों से **'नाता छूटल हो'**– सहसा सम्बन्ध टूट जाता है, जाने कब गगरी फूट जाती है।

सारांशतः अनन्त योनियाँ अवघट घाट हैं। इसमें मनुष्य शरीर भवसागर से पार होने का उपाय है। इस शरीर में आने पर भी धोखे ही धोखे में ठग लिये गये। हमने सोचा, यह सम्पत्ति हमारी; फिर भी वह हमारी नहीं रही। धोखे ही धोखे में गगरी फूट गयी। अस्तु, सबको ऐसा उपाय करना चाहिए कि श्वास के रहते-रहते साधना-क्रम समझें; प्रातः-सायं, चलते-फिरते प्रभु का

नाम याद आता रहे तो सोने में सुहागा है। इसे आचरण में ढाल लें, इतना ही करना है। आप सभी कार्य यथावत् करते रहें, कुछ भी नहीं त्यागना है। केवल एक परमात्मा के प्रति दृढ़ संकल्प हो जायँ। कोई अच्छे महापुरुष हों, सद्गुरु हों, उनसे उस परमात्मा की प्राप्तिवाली विधि, क्रिया समझें और लग भर जायँ। श्वास के रहते हुए आप लग गये तो यह धोखा नहीं होगा, भले ही आपको एक-दो जन्म और लेना पड़े, कल्याण निश्चित है।

पूज्य गुरु महाराज जी के आदर्श जीवन-वृत्त से भी यही प्रमाणित होता है। बाल्यावस्था में वे तीन दिन पाठशाला गये। किसी बात पर गुरुजी ने मार दिया। बालक लगा रुदन करने! माँ ने कहा– भाड़ में गयी शिक्षा! आज से मेरा बेटा नहीं पढ़ेगा। माँ के वात्सल्य का इतना दबाव पड़ा कि पढ़ने-लिखने का पाठ जीवन से उठ ही गया। क्षेत्रीय वातावरण दण्ड-बैठक, कसरत और अखाड़े का था। आप उसी में लग गये। सीने में मिट्टी पोतकर, दण्ड-बैठक लगाकर दस गाँव में आप नामजद पहलवान हो गये। कुश्ती में कभी पराजित नहीं हुए।

सहसा आपको तीन बार आकाशवाणी हुई– 'इन महात्मा को भोजन कराओ।' उन्हें भोजन कराया। बाद में ज्ञात हुआ कि वे सात दिन के भूखे थे। दूसरी बार आकाशवाणी हुई कि 'महान पाप करने जा रहे हो, घोर नरक में जाओगे।' वह जिधर जा रहे थे, उधर से सहसा घूम पड़े। तीसरी बार आकाशवाणी हुई– 'इस खण्डहर मन्दिर में तुम्हारे गुरु महाराज बैठे हुए हैं।' आप मन्दिर में गये। वहाँ घोर अन्धकार में कोई दिखाई ही नहीं पड़ा। आपके मन में किञ्चित् झुंझलाहट हुई कि पता नहीं हमारे मस्तिष्क में कौन जोर से बोलता है, कौन धीरे से! अभी आवाज आयी थी कि इसमें गुरु महाराज हैं, किन्तु इसमें तो कोई नहीं है। इतने में मन्दिर से खाँसने की आवाज आई। आप पुनः मन्दिर में गये। वास्तव में वह महापुरुष बैठे थे। आप तीन दिन, तीन रात लगातार उनकी सेवा में लगे ही रह गये। इसी अल्पावधि में आपने साधना-क्रम समझा और भजन में लग गये। गुरु महाराज महापुरुष हो गये। कालान्तर में वे ही अनुसुइया के परमहंस जी हुए।

हमने पूछा, "महाराज जी! आपको आकाशवाणी क्यों हुई, सबको तो नहीं होती?" गुरु महाराज ने बताया– हो! ई शंका मुझे भी हुई थी कि मुझे आकाशवाणी क्यों हुई? तब अनुभव में भगवान ने मुझे बताया कि पिछले सात जन्मों से मैं साधु रहा हूँ। चार जन्मों तक तो मैं झूठ-मूठ का साधु था। हमने जानना चाहा कि झूठ-मूठ से आपका क्या आशय है? महाराज जी ने बताया कि वेष तो साधु का था किन्तु उन दिनों भजन-क्रिया जागृत नहीं थी किन्तु टेक का पक्का रहा हूँ। गत तीन जन्मों से बढ़िया साधु रहा हूँ, इष्टदेव रथी थे, भगवान सदा साथ में थे, योगक्रिया जागृत थी। पिछले जन्म में निवृत्ति हो चली थी किन्तु दो-एक इच्छाएँ मन में रह गयी थीं इसलिए मुझे जन्म लेना पड़ा। एक तो गाँजा पीने की इच्छा थी; दूसरा कुतूहल था कि शादी-विवाह क्या होता है? तीसरा किञ्चित् देहाभिमान भी था कि मैं कुलीन हूँ तो भगवान ने ऐसा जन्म दिया कि 'कहीं का ईंट कहीं का रोड़ा'। अब गर्व भी करें तो किस पर? वेदव्यास किस पर गर्व करते? शृंगी ऋषि किस पर नाज करते?

माई धोबिन बाप चमार, ता कर जनमल हम बनवार।

कबीर किस पर नाज करते? इसी प्रकार महाराज जी का जन्म थोड़ा टेढ़ा-मेढ़ा था। भगवान ने शादी-विवाह कराकर थोड़े ही दिनों में सब दिखा-सुना कर बता दिया– यह गुरु महाराज और यह रास्ता! पूज्य गुरु महाराज कहा करते थे, "हो! भगवान ने मुझसे घर छुड़वाया है। मैं सचमुच का साधु हूँ। भगवान ने मुझे साधु बनाया है।" और बात भी सही थी, तरीका यही है। अस्तु,

इसके तो आगे भजन ही है साथी,
भजन के बिना तू अकेला रहेगा।

यह भजन ही साथी था जिसने महाराज को खींचकर घर से निकाला। गृहत्याग के पश्चात् महाराज को पूर्णत्व प्राप्ति में केवल आठ साल लगा लेकिन इन आठ वर्षों में न जाने कितने उपवास हुए। दिगम्बर वेष में रात-

रात भर जगकर वह भजन करते ही रह गये। इसी प्रकार वर्षों व्यतीत हो गये। प्रभु जब रथी हो जाते हैं, वह भजन करवा लेते हैं। इसके पश्चात् साधक का केवल इतना दायित्व है कि आदेश का पालन करें। भगवान कहते क्या हैं? उस आदेश पर खरे उतरते जायँ, इतना ही भजन है। इस अवस्था से पूर्व जो हमलोग करते हैं या करेंगे, वह सारा प्रयत्न भजन में प्रवेश के लिए है। कोई प्रयास नहीं करेगा तो प्रवेश कैसे होगा?

भजन की प्रवेशिका यहीं से है कि दो-ढाई अक्षर का कोई नाम– ॐ अथवा राम– जो उस परमात्मा का परिचायक हो, उसका आप जप करें, एक परमात्मा में दृढ़ संकल्प हो जायँ और उसके अर्थस्वरूप कोई अच्छे महापुरुष हों, जो उस पथ के ज्ञाता हों, उनसे साधना-क्रम समझें।

एक घड़ी आधी घड़ी, आधे में पुनि आध।
तुलसी संगत साधु की, हरै कोटि अपराध॥

!! बोलिये श्री सद्‌गुरुदेव भगवान की जय !!

अमृतवाणी

(कैसेट संख्या– 6:2)

बूझो बूझो पण्डित अमरित बानी।

बूझो बूझो पण्डित अमरित बानी।
बरसै कम्बल भीजे पानी।।

लौकी बूड़े सिल उतराय। मछली धरि के बकुलवै खाय।।
धरती बरसे सुरुज नहाय। ओरिया क पानी बड़ेरियै जाय।।

तर भइ घड़ा ऊपर पनिहारी।
बूझो बूझो पण्डित अमरित बानी।।1।।

तर भइ छानि ऊपर भई भीत। यह दुनिया की उलटी रीत।।

चिल्हवा के थट पर टेंगनी बियानी।
बूझो बूझो पण्डित अमरित बानी।।2।।

ठाढ़े डोमवा के फारे बाँस। बकरा बेंचे चीक कर मांस।।

हुँड़रा के घर में बकरिया रानी।
बूझो बूझो पण्डित अमरित बानी।।3।।

तवा के ऊपर चूल्ह चढ़ि जाई। पकवन वाला के रोटियै खाई।।
चले बटोहिया थाकल बाट। सोवनहार पै उलटा खाट।।
कह कबीर यह उलटा ज्ञान। मूते इन्द्री बाँधे कान।।

लरिका के गोद में खेले महतारी।
बूझो बूझो पंडित अमरित बानी।।4।।

'अमरित बानी'– मृत नाशवान को कहते हैं; जहाँ मृत्यु न हो, जो मृत्यु से परे हो। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में बताया– अर्जुन! आत्मा अमृतस्वरूप है, अविनाशी है, अपरिवर्तनशील है, अखण्ड है, एकरस है, अजन्मा है। इस प्रकार मृत्यु से परे केवल आत्मा है। आपके अन्तःकरण के अन्तराल में वह प्रभु सदा विद्यमान रहते हैं इसलिए उन्हें एक नाम 'आत्मा' दिया गया। प्रकृति में होते हुए भी वे प्रकृति से अत्यन्त परे हैं इसलिए 'परमात्मा' हैं। पुरुषों में वही उत्तम सत्ता है इसलिए पुरुषोत्तम; व्यापक हैं इसलिए ब्रह्म; वही सनातन हैं, शाश्वत हैं। कबीर कहते हैं– अमृत तत्त्व को दिला देनेवाली उस वाणी को सुनो, बूझो अर्थात् समझो।

हिन्दी की भोजपुरी शैली में 'बुझले बानी', 'बूझतानी', 'बूझलऽ' जैसे प्रयोग मिलते हैं। बूझने का अर्थ है भली प्रकार समझना। कोई पण्डित हो, ज्ञाता हो तो उस अमृत दिला देने वाली वाणी को जरा समझो। वह वाणी है क्या?

बरसे कम्बल भीजे पानी।

एक कम्बल वह है जिसे आप जाड़े में ओढ़ते हैं किन्तु कबीर इसे शाब्दिक अर्थ में न लेकर प्रतीकात्मक आशय में लेते हैं। कम बल अर्थात् अल्प बल! पूर्वकृत कर्त्तव्य ही कम्बल है। यदि पूर्वजन्म में ही कर्त्तव्य पूर्ण हो गया होता, साधना पूर्ण हो गयी होती हम स्वरूप पा जाते; जहाँ द्वैत का बखेड़ा नहीं, उस भगवत्ता को प्राप्त हो जाते। यदि कर्त्तव्य रंचमात्र भी न होता तो सत्संग में आने का औचित्य ही न होता। वह पाप आने ही न देता। तब तो आप वहाँ मिलते–

रिन्दों की नज़र में मयख़ाना, काबे के बराबर होता है।
साकी की गली का हर फेरा, एक हज के बराबर होता है।।

मदिरा पीकर जो जपा जाता है, आप भी वही करते होते। अतः ईश्वर-चिन्तन का संस्कार लेशमात्र नहीं है तब भी साधना में प्रवेश नहीं है और

साधना पूर्ण हो गयी तब तो पार ही हो गये। इसलिए पूर्वकृत कर्त्तव्य ही कम्बल है, अल्प बल है। जहाँ से साधना छूटी है वहीं से अगले जन्म में शुरुआत होनी है। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा– अर्जुन! थोड़ा भी साधन जिससे पार लग गया, अगले जन्म में जहाँ से साधन छूटा था, वहीं से आरम्भ करता है। विषयों में आकण्ठ डूबा होने पर भी वह अनायास ही पिछले जन्म के बुद्धि-संयोग को प्राप्त कर लेता है और कुछेक जन्मों के अन्तराल से वहाँ पहुँच जाता है जिसका नाम परमगति है, परमधाम है जो मेरा सहज स्वरूप है। इस ईश्वरपथ में बीज का नाश नहीं है। **'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥'** *(गीता, 2/40)*– स्वल्प साधन भी जन्म-मृत्यु के महान भय से उद्धार करनेवाला होता है। सन्त कबीर पढ़े-लिखे तो नहीं थे, फिर भी आँखों देखा हाल उन्होंने वही व्यक्त किया कि बीज का नाश नहीं अर्थात् **'बरसे कम्बल भीजे पानी'**– पूर्वकृत कर्त्तव्य ही कम्बल है और वह जब इस जन्म में साथ देता है, प्रस्फुटित होता है तो **'भीजे पानी'**।

राम भगति जल मम मन मीना। किमि बिलगाइ मुनीस प्रबीना॥

(रामचरितमानस, 7/110/9)

वह भक्तिरूपी जल में भींगने लगता है, सराबोर हो चलता है। दूसरा कुछ भी उसे अच्छा नहीं लगता। ऐसे संस्कारी पुरुष अनायास ही गृह-त्याग कर देते हैं, उनका वह संस्कार ही उन्हें संसार की ओर से भगवान की ओर घूमा देता है। पूज्य गुरु महाराज जी बताया करते थे कि हमने साधु होने की कभी कल्पना भी नहीं की थी। सहसा मुझे आकाशवाणी हुई कि यह पाप है और यह पुण्य है, इस मन्दिर में गुरु महाराज हैं, जाओ भजन करो। हमने सोचा कि यह आकाशवाणी मुझे क्यों हुई तो भगवान ने मेरे अनुभव में सात जन्मों का विवरण बताया कि सातों जन्मों में हम लगातार साधु थे। यही पूर्वकृत कर्म ही कम्बल है। भक्तिरूपी रस में वह भींग जाता है। अब भींगनेवाले के लक्षण क्या हैं?

लौकी बूड़े सील उतराय।

लौ रूपी लौकी! प्रभु के प्रति ज्यों-ज्यों वह लौ लगाता है, चित्तवृत्ति को सब ओर से समेटकर चिन्तन में डूबने लगता है, त्यों-त्यों '**सील उतराय**'– शील अर्थात् साधुता के गुणधर्म उभरकर ऊपर आने लगते हैं। साधु बनने की जरूरत नहीं है। ज्यों-ज्यों चिन्तन में आप डूबेंगे, साधुता में मिलनेवाला ईश्वरीय प्रतिबिम्ब, ईश्वरीय आभा उभरकर ऊपर आने लगती है। नंगे रहेंगे तो साधु, कुवेष में रहेंगे तो साधु रहेंगे, केवल लौ में डूबें! जब कर्त्तव्य ने साथ दिया, लौ में डूबने लगे, मन अन्तराल में सिमटने लगा, शील-साधुता के गुणधर्म उभरकर ऊपर आने लगे, तब–

मछली धरि के बकुलवै खाय।

भक्तिरूपी रस में डूबनेवाली मनरूपी मछली बकध्यानी प्रवृत्ति को खा जाती है। फिर ऐसा भक्त कभी ढोंग नहीं कर सकता, उससे दिखावा होगा ही नहीं। इस स्थिति से पूर्व लोग कभी वेष बनाते हैं और कभी कुछ भी कर बैठते हैं। अब भक्तिरूपी जल की वृष्टि कहाँ पर होती है? तो–

धरती बरसे सुरुज नहाय।

धरती क्या है? '**धड़ धरती का एकै लेखा। जो बाहर सो भीतर देखा॥**'– धड़ कहते हैं शरीर को, धरती पृथ्वी को कहते हैं। कबीर कहते हैं– दोनों एक ही जैसे हैं, दोनों का एक ही माप-तौल है। जो कुछ बाहर है, वह सब मन के अन्तराल में है। तुलसीदास कहते हैं–

असन वसन पसु वस्तु विविध विधि सब मनि महँ रह जैसे।
सरग नरक चर अचर लोक बहु बसत मध्य मन तैसे॥

एक बहुमूल्य मणि में असन माने भोजन, वसन अर्थात् वस्त्र-आभूषण, विविध प्रकार के पशु, रहन-सहन, मान-मर्यादा– सब कुछ विद्यमान है। ठीक इसी प्रकार मन के अन्तराल में स्वर्ग-नरक-अपवर्ग की सारी परिस्थितियाँ और समूची सृष्टि विद्यमान है। जब जिस संस्कार का क्रम आता है, पिण्डरूप में बाहर फेंकता रहता है, यह जीव भोगता रहता है। अतः '**धरती बरसे**'– शरीररूपी धरती में वह वृष्टि होती है, हृदय-देश में वह वृष्टि

होती है। ज्यों-ज्यों वह वृष्टि होगी, '**सुरुज नहाय**'– सूर्य परमात्मा के सहज प्रकाशस्वरूप का बोधक है। जीव और परमात्मा के बीच जो मल-आवरण विक्षेप पड़ा हुआ है, धुलने लगता है। अपने और आत्मा के मध्य जो मायिक पर्दा पड़ा है, स्वरूप के बीच का आवरण धुलने लगता है। ऐसी स्थिति में–

ओरिया क पानी बँड़ेरियै जाय।

छप्पर का जल जहाँ से नीचे गिरता है, उसे ओरी कहते हैं। शरीर में उर हृदय को, अन्तःकरण को कहते हैं। उर के अन्दर ज्यों-ज्यों ब्रह्म-पीयूष संग्रहित होता जायेगा, उसका परिणाम '**बँड़ेरियै जाय**'– बँड़ेर छप्पर का ऊपरी सिरा है। '**प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी।**' *(रामचरितमानस, 7/71/7)*– प्रकृति छप्पर का निचला हिस्सा ओरी है तो परमात्मा उसका ऊपरी सिरा बँड़ेरी है। उर में ज्यों-ज्यों भजन-भक्तिरूपी रस संग्रहित होता चला जायेगा, त्यों-त्यों वह आपको ब्रह्म के धरातल की ओर फेंकता जायेगा।

तर भई घड़ा ऊपर पनिहारी। बूझो बूझे पण्डित अमरित बानी।।

घड़ा? शरीर ही कच्चा घड़ा है। कबीर की साखी में है–

यह तन काचा कुंभ है, लिये फिरे तू साथ।
धक्का लागा फूट गया, बहुरि न आवे हाथ।।

है तो यह कच्चा घड़ा लेकिन यह मानव-तन देवताओं को भी दुर्लभ है। जब भक्तिरूपी रस में घट, आपका हृदय तर हो गया, सराबोर हो गया तो प्रणपथ पर चलनेवाले पनिहारी की रहनी ऊर्ध्वरेता हो जाती है। उसकी रहनी प्रकृति की पहुँच से ऊपर उठने लगती है। इस संसार से उसका कोई लगाव नहीं रह जाता।

तर भइ छानि ऊपर भइ भीति।

छानी या छप्पर ऊपर होता है, भीति या दीवाल नीचे होती है। छानी का आधार तो भीत ही है। इसी प्रकार जिस स्तर पर हम खड़े हैं, जिस परमात्मा की हमें चाह है, हमारी पुकार ऐसी हो कि परमात्मा उसी स्तर पर

उतर आये, यहीं उसकी छत्रछाया मिल जाय, वह अपना वरदहस्त रख दे तो **'ऊपर भइ भीति'**– जिस क्षण छाया मिली, उनका हाथ ऊपर हुआ, उसी क्षण से परमात्मा के धाम में भक्त के मकान की बुनियाद तैयार होने लगती है। उस भक्त का घर उसके धाम में बनने लगता है। पूज्य गुरु महाराज को अनुभव में आया था कि अब परमात्मा के दरबार में नौकरी लग गयी।

यह दुनिया की उलटी रीति।

रीति अर्थात् विधि! यह दुनिया में फँसानेवाली नहीं बल्कि दुनिया से उलटकर परमात्मा में प्रवेश दिला देनेवाली विधि है।

चिल्हवा के थट पर टेंगनी बियानी।

चित्त की प्रवृत्तियाँ जो बारम्बार आवागमन, जन्म-मृत्यु के कारण हैं, चील हैं। बहुत ऊँची उड़ान भरने पर भी इनकी दृष्टि सड़े-गले मांस पर ही रहती है। इस चित्तवृत्तियों को संयत करके इनके थट अर्थात् सिर के ऊपर **'टेंगनी बियानी'**। बहुत छोटी मछली को टेंगनी कहते हैं। थोड़ी-सी टेक आ गयी, थोड़ा टिकते बना तो **'टेंगनी बियानी'**– उस टेक का विस्तार होने लगता है। परमात्मा की ओर साधना गति पकड़ लेती है अर्थात् इस पथ में बीज का नाश नहीं है। आगे कहते हैं–

ठाढ़े डोमवा के फारे बाँस। बकरा बेंचे चीक कर मांस।।

हुँड़रा के घर में बकरिया रानी।
बूझो बूझो पण्डित अमरित बानी।।

इन तीनों दृष्टान्तों का एक ही सन्दर्भ है। आप देखते हैं कि डुमार बाँस को चीर-चीर कर टोकरी पर टोकरी फेंकता है। चिकवा बकरे का माँस काट-काट कर बेचता रहता है। हुँड़रा अर्थात् बड़ी प्रजाति का श्रृगाल बकरियों को चट कर जाता है किन्तु अध्यात्म में कुछ विपरीत जैसा है, डोम को बाँस ही फाड़ देता है। सन्त कबीर ने काल को डोम की, हुँराड़ की और चिकवा की संज्ञा दी। काल की गति एक डोम जैसी है। काल आपके निर्मल श्वास को

चीर-चीर कर उसमें संस्कारों के तमाम प्रपंच प्रविष्ट कर टोकरी पर टोकरी, आपको कूकर-शूकर इत्यादि अनन्त योनियों में फेंकता रहता है–

कवन जोनि जनमेउँ जहँ नाहीं। मैं खगेस भ्रमि भ्रमि जग माहीं।।

(रामचरितमानस, 7/95/8)

कूकर-शूकर, ऊँच-नीच, देव-दानव-मानव, कीट-पतंग, जड़-चेतन– ये सभी टोकरियाँ हैं। कलेवर परिवर्तन टोकरी है। काल की इतनी पहुँच है कि वह बार-बार स्वाँस की इस निर्मल अवस्था को चीर-चीरकर टोकरी पर टोकरी, योनि पर योनि, आकृति पर आकृति करता चला जा रहा है किन्तु यदि आपको परमात्मा का वरदहस्त मिल गया, प्रभु के धाम में आपकी बुनियाद पुष्ट हुई, वृत्तियों पर जहाँ थोड़ी टेक आई, धाम का विस्तार होने लगा, तहाँ स्वाँस में प्रभु के चिन्तन का निरन्तर सञ्चार हो जाता है।

सन्त कबीर ने स्वाँस को बाँस का रूपक दिया है। कतिपय महापुरुषों ने इसी को बासुदेव कहा क्योंकि स्वाँस में परमदेव परमात्मा का निवास है। स्वर के निरोधकाल में उन्होंने परमात्मा को पाया इसलिए प्रभु का एक नाम ईश्वर भी है। जब वृत्तियों में टेक आ जाती है (हठ ही हनुमान है), परमात्मा का वरदहस्त मिल जाता है, तहाँ फिर स्वाँस इतनी निर्मल और उन्नत हो जाती है कि डोम अर्थात् काल की गति को चीरने लगती है, काल के प्रभाव को काटने लगती है। यही है **'ठाढ़े डोमवा के फाड़े बाँस।'**, और–

'बकरा बेंचे चीक कर मांस'– काल की अधिकृत भूमि इस सृष्टि में आत्मा का अस्तित्व एक बकरे जैसा है। काल उसे टुकड़े-टुकड़े कर बेंचता रहता है। काल एक चिकवा (कसाई) जैसा है। काल इस जीव को काट-काट कर योनि पर योनि, संस्कार पर संस्कार, नीचे-ऊँचे भाव में बेचता रहता है। जो आत्मा बकरे की तरह पराधीन और दुर्बल थी, भगवान की छत्रछाया पाकर इतनी सबल हो जाती है कि वह चीक का मांस बेचने लगती है अर्थात् उपदेश भी करने लगती है कि नश्वर होते हुए भी आपलोग काल को जीत सकते हैं। साहस करें, आप भी काल का पार पा सकते हैं।

कबीर ने काल की तीसरी उपमा हुँराड़ या वीग– बड़ी प्रजाति के सियार से की है। बकरी वीग के साधारण भोजन की वस्तु है। उसी वीग के घर में, काल के वातावरण में रहते हुए भी महापुरुष की आत्मा रानी की तरह विहार करती है। उसके लिए कोई प्रतिबन्ध, कोई विधि-निषेध नहीं रह जाता। वह महात्मा इच्छाशक्तिसम्पन्न हो जाता है– **'जो इच्छा करिहउ मन माहीं। हरि प्रसाद कुछ दुर्लभ नाहीं।।'** तुलसी के अनुसार–

सो गोसाइं बिधि गति जेहिं छेंकी।
सकइ को टारि टेक जो टेकी।। *(मानस, 2/254/8)*

अन्त में सन्त कबीर कहते हैं–

तवा के ऊपर चूल्हि चढ़ि जाई।

त्याग ही तवा है और चित्त ही चूल्हि है। त्याग की कसौटी पर चित्त को कसना पड़ता है, चित्त को परखते रहना है। यह कठिन है इसीलिए इसे तपस्या कहते हैं; तपाना पड़ता है, लोहे की तरह लाल कर अनुकूल आकार देना पड़ता है। ठीक इसी प्रकार ईश्वर-पथ में मनसहित इन्द्रियों को भली प्रकार तपाया जाता है, ज्ञानाग्नि-योगाग्नि में तपाया जाता है। त्याग एक ज्वाला है जिसकी आँच सभी सहन नहीं कर पाते–

लाखों योजन पर्वत ऊँचा, घाटी विकट करूर।
करि करि जतन फिरे बहुतेरे, पहुँचे बिरला सूर।
निरंजन घर का पंथ कठिन है दूर।।

लाखों लोग आये और ठोकर खाकर लौट गये। त्याग की कसौटी बड़ी कठिन है। पूज्य महाराज जी कहते थे– "हो! भगवान ने मोरे चूतड़े की लँगोटी तक छुड़वा लिया।" किन्तु त्याग की इस कसौटी पर आप भली प्रकार आरूढ़ हो गये, स्थिर हो गये, खरे उतरे तो **'चूल्हि चढ़ जाई'**– चित्त पर त्याग चढ़ बैठता है, भोजन तैयार हो जाता है। भजन ही भोजन है।

इस शरीर का पोषण रोटी-दाल अथवा जिससे आपका शरीर-निर्वाह हो सके वह खाद्य पदार्थ है किन्तु इस आत्मा का भोजन केवल भजन-चिन्तन है जो इसको परिपूर्ण और तृप्त करता है। फिर कभी वह पुरुष, वह आत्मा अतृप्त नहीं होता। त्याग की कसौटी पर जहाँ चित्त आरूढ़ हुआ, वहाँ आपका भजन पूर्णता की अवस्था में है, परिपक्व है। भोजन इस प्रकार पक कर तैयार तो हुआ लेकिन पकते ही परिणाम कुछ विचित्र निकला–

पकवन वाला के रोटियै खाई।

पकानेवाला तो मन था जो भजन करता था किन्तु भजन ज्यों परिपक्व हुआ, मन को ही खा गया; मन का निरोध हो जाता है, निरुद्ध मन का विलय हो जाता है।

मन मिटा माया मिटी हंसा बेपरवाह।
जाका कछू न चाहिए सोई शाहंशाह।।

मन मिटा तब माया मिटी। पहले माया नहीं मिटती। मिटानेवाला कौन था? आपकी लगन! आप सम्पूर्ण मन से सम्पूर्ण हृदय से लगे थे। भजन की परिपक्व अवस्था में भजनकर्ता ही उसमें समाहित हो गया, मैला चित्त भी विलीन हो गया। यही है **'पकवन वाला के रोटियै खाई।'**।

अन्त में कबीर निर्णय देते हैं कि केवल मैंने यह स्थिति पायी हो, ऐसी बात नहीं है। इस सम्भावना का द्वार सबके लिए खुला है।

चले बटोहिया थाकल बाट।

सांसारिक मार्गों पर आप रात-दिन चलते रहिये, आप थक सकते हैं, पीढ़ियाँ थक सकती हैं, घोर जंगल में भी निरन्तर चलते रहने पर नये रास्ते तैयार हो सकते हैं, रास्ता कभी नहीं थकता! किन्तु भक्ति-पथ ही एकमात्र ऐसा पथ है यदि चलनेवाला कोई पथिक है तो एक समय ऐसा आता है कि रास्ता ही थक जाता है। प्रभु के दर्शन, स्पर्श और उनमें स्थिति के साथ ही आगे बढ़ने का मार्ग ही समाप्त हो जाता है– **'भजन हमार हरि करें, हम पायौं विश्राम।'** ऐसा महापुरुष पेंशनीयर हो जाता है। आगे कोई सत्ता नहीं जिसके

लिए वह आगे बढ़े। जहाँ उन प्रभु को जाना तो **'जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई।'** *(रामचरितमानस, 2/126/3)*– सेवक सदा के लिए खो जाता है, स्वामी ही शेष बचता है। यदि प्राप्ति के पश्चात् भी प्रभु अलग और सेवक अलग है तो बेचारे जीव का कल्याण कैसा? प्रभु करुणा कर जब अपनाते हैं तो अपने ही रूप में समाहित कर लेते हैं, अपना ही रूप प्रदान कर देते हैं जिसे कबीर कहते हैं– **'चले बटोहिया थाकल बाट।'** और–

सोवनहार पर उलटा खाट।

मान लें किसी ने चल तो दिया किन्तु मार्ग में सो गया कि भजन तो करना ही है, चार ईंट और सजा लें, सेवा भी तो भजन ही है। भजन कल कर लेंगे, परसों कर लेंगे.....टालता रहता है, वह जगत्‌रूपी रात्रि में झपकी लेता रहता है। इस प्रकार लापरवाही से चलनेवाले के लिए, सोवनहार के लिए **'उलटा खाट'**– उसका ख्याल, विचार ही उलटकर उसे दबोच लेता है, फिर वह उठ नहीं पाता।

कह कबीर यह उलटा ज्ञान।

कबीर कहते हैं– यह ज्ञान संसार से उलटा है। सीधा तो लोक-व्यवहार है जो आँखों के सामने है। इससे पलटकर **'किले में उलट लड़े सो शूर! पाँच पचीसों चूर....किले में....'**। पहले तो हम माया की ओर बहते चले जा रहे थे। जब हमें याद आया कि यह भ्रम है तहाँ हम उधर से घूमकर आत्मस्वरूप, अपने सहज स्वरूप की ओर चल पड़ते हैं। इसी को कबीर ने उलटना कहा है। यह संसार में फँसानेवाला ज्ञान नहीं है बल्कि पलटकर अपने स्वरूप की ओर, अपने घर की ओर ले चलनेवाला ज्ञान है; किन्तु इस ज्ञान-पथ में यदि **'मूते इन्द्री बाँधे कान'**– यदि इन्द्रियों से कहीं लीक हो गये, आसक्त हो गये तो कर्म-संस्कार पुनः आपको बाँध लेंगे।

तब फिरि जीव बिबिधि बिधि, पावइ संसृति क्लेस।
हरि माया अति दुस्तर, तरि न जाइ बिहगेस।।

(रामचरितमानस, 7/118-क)

मनुष्य स्वर्ग, बैकुण्ठ, सिद्धियों की वार्ता सुनकर कामनाओं में फँस जाता है इसलिए कान कर्णेन्द्रिय पर अधिक बल दिया गया है। रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श– किसी की वासना जगी, पुनः कर्म-संस्कार आपको बाँध लेंगे। प्राप्ति के मार्ग की दूरी बढ़ जायेगी क्योंकि इस पथ में बीज का नाश नहीं होता किन्तु यदि स्खलन नहीं हुआ, कोई प्रलोभन आकर्षित न कर सका तो–

लरिका के गोद में खेले महतारी।
बूझो बूझो पंडित अमरित बानी।
बरसे कम्बल भीजे पानी।।

बच्चे माँ की गोद में खेलते हैं किन्तु यहाँ कबीर कहते हैं कि भजन की परिपक्व अवस्था में लड़के की गोद में माँ खेलती है। वास्तव में इस पंचभौतिक शरीर का जन्म माताओं से है; किन्तु आपके आत्मस्वरूप का जो आविर्भाव है उसमें भक्ति ही माता है। आरम्भ से भक्ति पराकाष्ठा तक पहुँच गयी तो लक्ष्य ही लड़का है। लक्ष्य है आपका स्वरूप, आत्मानुभूति! जो कण-कण में व्याप्त है, जहाँ उसकी अनुभूति मिली उसी लक्ष्य के अन्तराल में भक्ति किलोले करने लगती है। अब उसे कोई खतरा नहीं है। आगे करने योग्य भजन शेष नहीं, पीछे कुछ माया शेष नहीं जिसे काटे; इसलिए लक्ष्य के अन्तराल में अर्थात् ईश्वरप्राप्ति के पश्चात् भक्त निर्द्वन्द्व है, निश्चिन्त है, अब खेलता है।

पूज्य गुरु महाराज जी बताया करते थे– हो! भगवान जब स्वरूप देते हैं तब कुछ अस्त्र-शस्त्र भी दे दिया करते हैं। उन्हीं के द्वारा मारते-काटते साधक निर्द्वन्द्व और मस्त रहता है। मुझे जब स्वरूप मिला तो भगवान ने कुछ हथियार भी प्रदान किये; जैसे बताया कि तेरी वाणी में यह गुण है कि आप कुछ भी कह दें, वह हो जायेगा। किसी को कल फाँसी होनी है और तुम दाहिने हाथ से छड़ी मार दोगे तो सजा चाहे जो हो जाय, फाँसी नहीं हो सकती, उसे कोई मार नहीं सकता। किसी को तुम अपने बायें हाथ से मार

दोगे तो उसके सभी करम हो जायेंगे। तेरी विभूति में यह गुण, तेरी वाणी में यह गुण, तेरी गाली में यह गुण है। इसीलिए मैं गाली देता हूँ। हो, नहीं तो **'गाली देत न पावहु सोभा।'**– संत को गाली कहाँ शोभा है! लेकिन मुझे आदेश है। यदि मैं उसे गाली न दूँ तो जिस कामना को लेकर वह आया है, उसका भला ही न हो।

कोई याचना लेकर गुरु महाराज के पास पहुँचता तो महाराज जी उसे बड़ी खरी-खोटी सुनाते थे– मरने की घड़ी में मेरे माथे आ गये! पाप करें सार अपने और भोगें बाबाजी! दो छड़ी किसी को लगा दें तो वह ठीक हो जाय और महाराज जी को चढ़ जाये बुखार! यही है हथियार! उन्हीं के सहारे महापुरुष लड़ते-झगड़ते निर्द्वन्द्व निकल आते हैं। उनका शेष जीवन इसी प्रकार कल्याण करते व्यतीत हो जाता है। यही है **'लरिका के गोद में खेले महतारी।'**। **'बूझो बूझो पण्डित अमरित बानी।'**– कोई पण्डित हो, ज्ञाता हो तो इस अमृत तत्त्व को दिला देनेवाली वाणी को समझो। पण्डित साधक योगी का एक उन्नत स्तर है। उन्हीं को उद्देश्य बनाकर कबीर ने अपनी वाणी का प्रसार किया।

!! बोलिये गुरुदेव भगवान की जय !!

अमृतवाणी

(कैसेट संख्या– 7:1)

सन्तो! भगती सदगुरु आनी।

(अमृतवाणी के इस चरण में परम आदरणीय पूज्य गुरुदेव स्वामी श्री अड़गड़ानन्दजी महाराज ने अत्यन्त ममस्पर्शी शब्दों में महापुरुष कबीर के पद की आध्यात्मिक व्याख्या कर भक्ति के स्रोत पर प्रकाश डाला है।)

गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा– अर्जुन! तू किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष के पास जाकर भली प्रकार दण्ड-प्रणाम कर निष्कपट भाव से सेवा करके, प्रश्न करके उस ज्ञान को प्राप्त कर। भगवान राम कहते हैं– 'भगति मोरि।' इसी क्रम में बौद्ध कहते हैं– 'बुद्धं शरणं गच्छामि।' जैन-दर्शन कहता है– 'सम्यकदर्शन ज्ञान चरित्राणि।' सिख कहते हैं– 'वाहे गुरु।' इस्लाम कहता है– 'मुहम्मद साहब अल्लाह के रसूल हैं।' ईसा कहते हैं– 'संसार के भार से दबे लोगो! मेरे पास आओ। मैं तुम्हें विश्राम दूँगा।' परमपूज्य परमहंस जी महाराज कहते थे– 'हो, हम भगवान के दूत हैं। मुझसे मिले बिना कोई भगवान से नहीं मिल सकता।' प्रत्येक महापुरुष ने यही कहा कि भक्ति तो सद्‌गुरु की देन है।

अयोध्या, वृन्दावन इत्यादि प्रसिद्ध तीर्थस्थलियों में मूर्तिपूजा को ही भक्ति कहते हैं। मूर्तिपूजा को सगुण उपासना भी कहते हैं। भक्ति की शुरुआत के लिए मूर्तिपूजा उपयोगी माध्यम है किन्तु भक्ति की प्रौढ़ अवस्था में एकान्त देश का सेवन, विरह-वैराग्य, भगवान के लिए तड़फन नितान्त आवश्यक है–

हँसि हँसि कन्त न पाइयाँ, जिन्ह पाया तिन रोय।
हँसी खुशी जो पिउ मिले, कौन दुहागिन होय।।

हँस-हँसकर किसी ने परमात्मा को नहीं पाया। जब कभी किसी ने परमात्मा को पाया, रुदन करके पाया है, विलाप करके पाया है। यदि हँसी-खुशी में भगवान मिल जाते तो परित्यक्ता जैसी दीन-हीन दशा कोई क्यों सहता? तपस्वी शान्त एकान्त में क्यों कष्ट झेलते हैं। राम के विरह में भरत की दशा को हनुमान ने देखा–

बैठे देखि कुसासन, जटा मुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत, स्त्रवत नयन जल जात।।

भरत की आँखों से अश्रुपात, जिह्वा पर राम का नाम और गात कृश हो चला था।

राम नाम जिनु भीजिया, झीना पिंजर तास।
नैन न आवे नींदड़ी, अंग न जामें मांस।।

राम नाम में जिसकी सचमुच लौ लग गयी, उसके शरीर पर मांस नहीं बढ़ता, न ही रात में भरपूर नींद आती है। पूज्य गुरु महाराज कहते थे– अच्छे साधक को कुकुर-निंदिया सोना चाहिए। पत्ता खड़कते ही कुत्ता उठकर भौं-भौं करने लगता है। साधु को ऐसे ही सोना चाहिए।

एक महात्मा रात्रि में जगकर चिन्तन कर रहे थे। उनका एक भक्त आया। वह बोला– अरे महाराज! कुटिया में आप अकेले हैं, कुछ है भी नहीं कि चोरों का भय हो। आप खड़े होकर जग क्यों रहे हैं? उन महात्मा ने कहा– भाई! बाहरी चोरों का हमें लेशमात्र भी भय नहीं है; किन्तु हमारे हृदय में ही कुछ चोर ऐसे हैं कि जहाँ मैं असावधान हुआ, वे हमला कर देंगे। काम-क्रोध, लोभ-मोह, राग-द्वेष वासनाओं की तरंगें हैं। चित्त भजन से हटते ही उन तरंगों का स्पर्श करने लगता है, यह विश्राम करता ही नहीं! इसलिए मैं जग रहा हूँ।

गुरु महाराज कहते थे– साधक को चार घण्टे से अधिक नहीं सोना चाहिए। उचित सोना और जागना साधक के लिए अत्यन्त आवश्यक है। योगी का आसन दृढ़, आहार दृढ़ और निद्रा दृढ़ होनी चाहिए अर्थात् आसन,

आहार और निद्रा पर विजय होनी चाहिए। चोरी, नारी, मिथ्या और इच्छा– यह चारों साधु के लिए खतरा है। अस्तु, भजन के आरम्भ से पूर्तिपर्यन्त युक्ताहार विहार के साथ विरह नितान्त आवश्यक है, जैसा भरत में था।

वनवासकाल में भगवान राम दण्डकारण्य में आये तो महर्षि अगस्त्य के शिष्य सुतीक्ष्ण उन्हें समीप आया सुनकर अधीर हो उठे–

हे बिधि दीनबन्धु रघुराया। मो से सठ पर करिहहिं दाया।।

(रामचरितमानस, 3/9/4)

क्या दीन-वत्सल भगवान मेरे जैसे मूर्ख पर भी दया करेंगे? क्योंकि–

मोरे जियँ भरोस दृढ़ नाहीं। भगति बिरति न ज्ञान मन माहीं।।
नहिं सतसंग जोग जप जागा। नहिं दृढ़ चरन कमल अनुरागा।।

(रामचरितमानस, 3/9/6-7)

मेरे मन में दृढ़ विश्वास भी नहीं है, न सत्संग है, न योग है, न जप-यज्ञ इत्यादि हैं। उनके चरणों में दृढ़ अनुराग भी नहीं है। आशा की केवल एक किरण है–

एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाके गति न आन की।।

(रामचरितमानस, 3/9/8)

प्रभु की विरुदावली में उनका एक स्वभाव है कि उन्हें वह प्यारा होता है जिसे उनके अतिरिक्त अन्य किसी का भरोसा न हो। किञ्चित् भरोसा देवी में, कुछ देवताओं में है तो सफलता नहीं मिलेगी। **'सो प्रिय जाके गति न आनी की।'**– जिसे अन्य किसी का सहारा नहीं, केवल प्रभु का आश्रय है, वही उन्हें प्रिय होता है। इसलिए,

होइहैं सुफल आजु मम लोचन। देखि बदन पंकज भव मोचन।।

(रामचरितमानस, 3/9/9)

अवश्य मेरे नेत्र सफल होंगे। वह **'मन क्रम वचन राम पद सेवक।'** थे। इतना ही नहीं, **'सपनेहु आन भरोस न देवक।'**– उन्हें स्वप्न में भी

किसी अन्य देवता से कोई अपेक्षा नहीं थी। यदि अन्य-अन्य स्थलों पर साधक की श्रद्धा बिखर गयी तो सिद्ध है कि अभी उसको साधना में भ्रम है, न कि वह भजन करता है। जब सुतीक्ष्ण जी को विश्वास हुआ कि प्रभु अवश्य कृपा करेंगे तो,

दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा। को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा।।

(रामचरितमानस, 3/9/11)

उन्हें पूरब-पश्चिम इत्यादि दिशाओं का भान नहीं रहा। मन ध्यान में केन्द्रित था–

कबहुँक फिरि पाछें पुनि जाई। कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई।।

(रामचरितमानस, 3/9/12)

कभी वह पीछे घूम जाते थे, कभी आगे बढ़ जाते थे, कभी नृत्य करने लगते थे तो कभी प्रभु का गुणगान। भगवान ओट में छिपकर यह सब देख रहे थे। अन्ततः,

अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा। प्रगटे हृदयँ हरन भव भीरा।।

(रामचरितमानस, 3/9/14)

उनका अपने प्रति अविरल प्रेम देख भवरोग का हरण करने के लिए भगवान उनके हृदय में प्रकट हो गये। उस समय–

मुनि मग माझ अचल होइ वैसा। पुलक सरीर पनस फल जैसा।।

(रामचरितमानस, 3/9/15)

बीच रास्ते में मुनि बैठ गये। वह किसी पगडण्डी अथवा किसी सड़क के मध्य नहीं बैठे थे। वस्तुतः भक्ति स्वयं में एक पथ है, मार्ग है। इस मार्ग पर चलते-चलते जब भगवान का स्वरूप हृदय में आया, साधक अचल स्थिर बैठ जाता है। **'पुलक सरीर'**- शरीर में रोमाञ्च हो आया, कण्ठ अवरुद्ध है; ठीक वही दशा जो भरत की थी। भगवान राम उनके समीप आ गये, उन्हें सचेत करने लगे–

मुनिहि राम बहु भाँति जगावा। जाग न ध्यानजनित सुख पावा।।

(रामचरितमानस, 3/9/16)

भगवान ने मुनि को जगाने के लिए अनेक प्रयास किया किन्तु मुनि जग ही नहीं रहे थे। उन्हें ध्यानजनित सुख जो मिल रहा था। ध्यान यम-नियमादिक साधना का परिणाम है जिसका अभ्यास आज से ही करना है; लेकिन जब ध्यान भली प्रकार लग ही जायेगा तो उसके परिणाम में निकल आयेंगे भगवान!

भगवान ने मुनि को समाधि से जागृत करने के लिए एक युक्ति लगाई। उन्होंने मुनि के हृदय में इष्टरूप से विराजमान राम के स्वरूप के स्थान पर अपना चतुर्भुज स्वरूप प्रकट किया। इष्ट से भिन्न स्वरूप देखकर मुनि चौंक पड़े-

मुनि अकुलाइ उठा तब कैसे। बिकल हीन मनि फनिबर जैसे।।

(रामचरितमानस, 3/9/19)

मुनि व्यग्र हो उठे, यह कैसा स्वरूप? हमारे भगवान का रूप कहाँ गया? यह कौन बीच में आ गया? मुनि उसी तरह विकल हो गये जैसे कोई मणिधर सर्प मणि खो जाने पर हो जाता है। घबड़ाकर उन्होंने आँखें खोल कर देखा तो भगवान सामने खड़े थे। जब हृदय में प्रभु का रूप आ जाता है तो बाहर भी जहाँ दृष्टि पड़ेगी वहाँ भी प्रभु हैं। ऐसे महापुरुषों ने कहा है कि भगवान सर्वत्र हैं।

सरग नरक अपबरग समाना। जहँ तहँ देख धरे धनु बाना।।

(रामचरितमानस, 2/130/7)

यही भक्त कवि सूरदास की उक्ति है– **'बिनु गोपाल ठौर नहिं कतहूँ नरक जात धौं काहे!'** यह भक्ति की चरमोत्कृष्ट अवस्था है किन्तु इसका आरम्भ **'गदगद गिरा'** *(रामचरितमानस, 3/15/11)*– अवरुद्ध कण्ठ, अश्रुपात और विरह से होता है; प्रार्थना से होता है, विनय और समर्पण से होता है। फिर भी पराकाष्ठा की भक्ति कुछ और ही है जिसे रामचरितमानस

के कागभुशुण्डि प्रकरण से हृदयंगम किया जा सकता है।

कागभुशुण्डि जी पिछले जन्म में शूद्र तन में थे। शूद्र तन साधना का प्रथम सोपान है, उस तन में थे। भाग्य से उन्हें उज्जैन में गुरु महाराज बहुत ही अच्छे मिल गये। परमार्थ के ज्ञाता वह महापुरुष उन्हें साधनोपयोगी रहस्य समझाने लगे; किन्तु कागभुशुण्डि जी ने अपना संस्मरण बताया कि उस समय मैं बहुत दम्भी था और दम्भी को नीति कब अच्छी लगती है?

गुर नित मोहि प्रबोध दुखित देखि आचरन मम।
मोहि उपजई अति क्रोध दंभिहि नीति कि भावई॥

(रामचरितमानस, 7/105-ख)

एक बार भगवान शिव के मन्दिर में बैठकर मैं भजन रहा था, गुरु महाराज पहुँच गये। अभिमानवश मैंने उन्हें उठकर प्रणाम नहीं किया–

एक बार हर मंदिर, जपत रहेउँ सिव नाम।
गुरु आयउ अभिमान तें, उठि नहिं कीन्ह प्रनाम॥
सो दयाल नहिं कहेउ कछु, उर न रोष लवलेस।
अति अघ गुर अपमानता, सहि नहिं सके महेस॥

(रामचरितमानस, 7/106)

गुरु का अपमान इतना घोर अपराध था कि जिन शंकर जी की मैं उपासना कर रहा था, वही रुष्ट हो गये। आकाशवाणी हुई कि रे हतभाग्य! अज्ञ अर्थात् अज्ञानी! अभिमानी! यद्यपि तुम्हारे गुरु महाराज के मन में तुम्हारे इस आचरण से तनिक भी क्रोध नहीं है, इन्हें वास्तविक बोध है; फिर भी मर्यादा का उल्लंघन हमें अच्छा नहीं लगता। अतएव मैं तुम्हें शाप अवश्य दूँगा–

बैठ रहेसि अजगर इव पापी। सर्प होहि खल मल मति ब्यापी॥

(रामचरितमानस, 7/106/7)

तू अजगर की तरह बैठा रह गया! जा, अजगर हो जा! अपराध कितना छोटा था– उठकर गुरु महाराज का अभिवादन नहीं किया था। किन्तु

शाप इतना बड़ा कि जा अजगर हो जा! इतना ही नहीं, एक हज़ार जन्म अधम योनियों में भोग! अब तो शिष्य लगा काँपने। पहले अपने को ज्ञानी समझता था कि अब गुरु महाराज में रखा ही क्या है? जो कुछ भी वह जानते थे, उन्होंने सब बता ही दिया है। मैं वह सब और सजाकर कह भी लेता हूँ। बड़े तार्किक थे कागभुशुण्डि जी। **'उग्र बुद्धि उर दम्भ बिसाला'** *(रामचरितमानस, 7/96/3)*; अब सारी बुद्धि चूल्हे में चली गयी, लगे काँपने। गुरु महाराज को दया आ गयी–

हाहाकार कीन्ह गुर, दारुन सुनि सिव साप।
कंपित मोहि बिलोकि अति, उर उपजा परिताप।।

(रामचरितमानस, 7/107-ग)

प्रभो! यह तो जड़ जीव है। आपकी माया से विवश होकर इसने ऐसा किया है। इसमें इस गरीब का तो कोई दोष है ही नहीं। भगवान शिव ने कहा– विप्रवर! आपकी साधुता देखकर मैं इसे न केवल क्षमा करूँगा, अपितु विशेष कृपा भी करूँगा। पहली कृपा यह होगी कि आपने इसे जो उपदेश दिया है, वह ज्ञान इसके किसी भी जन्म में नहीं मिटेगा और दूसरी कृपा–

जनमत मरत दुसह दुख होई। एहि स्वल्पउ नहिं ब्यापिहि सोई।।

(रामचरितमानस, 7/108/10)

जन्म लेने और मरने का दुसह कष्ट इसे नहीं होगा और तीसरा आशीर्वाद दिया कि–

पुरी प्रभाव अनुग्रह मोरें। राम भगति उपजिहि उर तोरें।।

(रामचरितमानस, 7/108/10)

एक तो तुम्हारा अयोध्या में जन्म हुआ, उस पुरी का प्रभाव और दूसरी मेरी कृपा– इससे राम की अविरल भक्ति तुम्हारे हृदय में रहेगी। भक्ति का वरदान कागभुशुण्डि जी पा गये।

क्रमशः एक हजार जन्मों के पश्चात् उन्हें मनुष्य का शरीर मिला। वह सन्त-महात्माओं की तलाश में निकल पड़े–

जहँ जहँ बिपिन मुनीस्वर पावउँ। आश्रम जाइ जाइ सिरु नावउँ।।

(रामचरितमानस, 7/109/10)

हर जगह हरि के गुणगान पर चर्चा होती रही किन्तु उन्हें सन्तोष कहीं नहीं हुआ। इसी क्रम में वह महर्षि लोमश के आश्रम में पहुँचे। लोमश ऋषि ने पहले तो उन्हें श्राप दिया– कौवे की तरह काँव-काँव करता है, चाण्डाल पक्षी कौवा हो जा। वह कौवा हो भी गये, **'हर्षित चलेउँ उड़ाय'**– प्रसन्न मन वहाँ से उड़ चले। मुनि ने देखा, इसमें तो महान शील है। लगता है यह भगवान का समर्पित भक्त है। हमसे भूल हुई क्या? उन्हें वापस बुला लिया, आशीर्वाद दिया।

राम भगति अबिरल उर तोरें। बसिहि सदा प्रसाद अब मोरें।।

(रामचरितमानस, 7/112/16)

राम की अविरल भक्ति मेरी कृपा से तुम्हारे हृदय में सदैव निवास करेगी। भक्ति का दूसरा वरदान लोमश जी से मिला। वह भजन में लग गये तो परमात्मा मिल गये। भगवान राम ने कहा– कागभुशुण्डि ज्ञान माँगो, वैराग्य माँगो, ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ-बैकुण्ठ जो भी चाहो माँग लो। वह विचार करने लगे कि भगवान सबकुछ देने के लिए कह रहे हैं किन्तु भक्ति का तो नाम ही नहीं ले रहे हैं–

प्रभु कह देन सकल सुख सही। भगति आपनी देन न कही।।
भगति हीन गुन सब सुख ऐसे। लवन बिना बहु बिंजन जैसे।।

(रामचरितमानस, 7/83/5)

विविध प्रकार के व्यंजन बना लें, केवल नमक न डालें तो सब एक जैसे, कोई स्वाद ही नहीं। भक्ति नहीं है तो सभी सुख और गुण ऐसे ही हैं। अन्त में भुशुण्डि जी ने कहा– प्रभो! यदि आप प्रसन्न ही हैं तो–

जौं प्रभु होइ प्रसन्न बर देहू। मोपर करहु कृपा अरु नेहू।।
मन भावत बर मागउँ स्वामी। तुम्ह उदार उर अन्तरजामी।।

अबिरल भगति बिशुद्ध तव, श्रुति पुरान जो गाव।
जेहि खोजत जोगीस मुनि, प्रभु प्रसाद कोउ पाव।।

(रामचरितमानस, 7/84-क)

'अबिरल भगति'– जो एक बार जागृत हो जाय तो फिर कभी उसका स्रोत न टूटे, निश्चय ही मोक्ष देकर ही दम ले; जिसके लिए मुनि लोग यत्न करते हैं, योगी जिसे खोजते हैं, आपकी कृपा से जिसे कोई विरला ही पाता है, आपके चरणों में ऐसी भक्ति हो जाय!

विचारणीय है कि भक्ति ही दी थी भगवान शिव ने, भक्ति ही दी थी गुरु महाराज लोमश ने; और भक्ति का परिणाम है कि भगवान मिल जायँ। आज भगवान मिल भी गये तब भी भक्ति ही माँग रहे हैं! भक्ति के द्वारा भगवान से भी आगे किसे ढूँढ़ेंगे वह? अन्ततः भक्ति है क्या?

वस्तुतः विभक्त का अर्थ है अलगाव और भक्ति का अर्थ है मिलन! भगवान अलग, हम अलग खड़े हैं तब तो अभी आप भक्ति की चरम सीमा तक नहीं पहुँचे। भगवान ने कोई वस्तु अलग से दे ही दिया तब तो सिद्ध है कि भगवान अलग हैं, इसलिए उन्होंने भगवान से भक्ति माँगा। भक्ति की चरम उत्कृष्ट सीमा है कि साधक प्रभु में समाहित हो जाय। 'भग इति स भक्ति'– त्रिगुणमयी प्रकृति से अतीत होना भक्ति की पराकाष्ठा है। उन्होंने प्रभु से माँगा कि हमें कुछ नहीं, केवल भक्ति चाहिए। राम प्रसन्न हुए और उन्हें अपने में समाहित कर लिया। यही है भक्ति! इसी पर सन्त कबीर का एक भजन है–

सन्तो! भगती सदगुरु आनी।
नारी एक पुरुष दुइ जाये, बूझो पंडित ज्ञानी। सन्तो.........।।

पाहन फोरि गंग इक निकसी, चहुँ दिसि पानी पानी।
तेहिं पानी दुइ पर्वत बूड़े, दरिया लहर समानी। सन्तो.........।।

उड़ि माखी तरुवर को लागी, बोले एकै बानी।
ता माखी को माखा नाहीं, गर्भ रहा बिनु पानी। सन्तो.........।।

नारी सकल पुरुषवै खाये, ताते रहत अकेला।
कह कबीर जो अबकी बूझै, सोई गुरु हम चेला। सन्तो.........॥

वनवासकाल में भगवान राम दण्डकारण्य में निवास कर रहे थे। एक बार उन्हें प्रसन्न देखकर लक्ष्मण ने जिज्ञासा की– प्रभो! ज्ञान क्या है? वैराग्य क्या है? ईश्वर क्या है? जीव क्या है? भक्ति क्या है?

सबका समाधान करते हुए भगवान ने बताया–

भगति तात अनुपम सुख मूला। मिलइ जो सन्त होइँ अनुकूला॥

(रामचरितमानस, 3/15/4)

तात! अनुपम सुख की मूल भक्ति है किन्तु वह मिलेगी तभी जब सन्त सद्गुरु अनुकूल हों। आदिशास्त्र गीता में है– '**उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।**' *(4/34)*। सन्त कबीर पढ़े-लिखे तो नहीं थे किन्तु वह गीता ही पढ़ रहे होते हैं जब कहते हैं– '**सन्तो! भगती सदगुरु आनी।**'– भक्ति तो सद्गुरु की देन है!।।

जे जन भीजे राम रस, विकसित कबहुँ न रूख।
अनभव भाव न दरसिये , तेहि नर सुख न दूख॥

जो कोई भी जन राम के रस में भींग गया, उससे आप्लावित हो गया, वह सदा विकसित रहता है। वह कभी उदास होता ही नहीं। लेकिन '**अनभव भाव न दरसिये**'– यदि उसे अनुभव जागृत नहीं हुआ है तो '**तेहि नर सुख न दूख**'– उसके लिये न सुख है न दुःख है। वह जपा करे राम-नाम! अभी वह भजन की प्रवेशिका के लिए प्रयत्न मात्र कर रहा है। उसके पास है कुछ नहीं; और उस अनुभव की जागृति सद्गुरु के द्वारा है।

गुरु महाराज जी कहते थे– "हो! सब बात सब कोई जानत हैं। दो-दो पैसे में वेदान्त बिकत है। *(उन दिनों गीता की पुस्तक गीताप्रेस गोरखपुर से दो पैसे में मिलती थी)* लोग पढ़त हैं और सार लिखतौ जात हैं। न जाने का लिखत हैं! किन्तु साधन ही एक ऐसी वस्तु है जो वाणी से कहने या

लिखने में आती ही नहीं। यह किसी अनुभवी सद्गुरु के द्वारा किसी-किसी अधिकारी विरही पथिक के हृदय में जागृत कर दिया जाता है।'' इसी आशय का कबीर का भजन है– '**सन्तो! भगति सदगुरु आनी।**'। भक्ति न तो पोथियों में मिलेगी, न तीर्थों में मिलेगी और न ही षोडश प्रकार की पूजा-पद्धतियों में मिलेगी। भक्ति जब मिलेगी सद्गुरु के द्वारा मिलेगी। उसे सद्गुरु तुम्हारे हृदय में जागृत कर देंगे। इसे पाने का अन्य कोई उपाय नहीं है।

भक्ति नारी-संज्ञक है इसलिए कबीर कहते हैं–

नारी एक पुरुष दुइ जाये।

रामचरितमानस में है–

माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ। नारि बर्ग जानइ सब कोऊ।।

(रामचरितमानस, 7/115/3)

दोनों ही स्त्रीलिंग शब्द हैं; किन्तु–

पुनि रघुबीरहि भगति पिआरी। माया खलु नर्तकी बिचारी।।

(रामचरितमानस, 7/115/4)

यह माया तो नृत्य करनेवाली नटी के सदृश है। प्रभु को भक्ति प्यारी है। अस्तु, भक्तिरूपी नारी! इस भक्ति का आरम्भ कहाँ से है? '**पुरुष दुइ जाये**'– इस भक्तिरूपी नारी ने विवेक और वैराग्य– इन दो पुरुषों को जन्म दिया।

ग्यान बिराग जोग बिग्याना। ए सब पुरुष सुनहु हरिजाना।।
पुरुष प्रताप प्रबल सब भाँती। अबला अबल सहज जड़ जाती।।

(रामचरितमानस, 7/114/15-16)

इस प्रकार भक्ति ने विवेक, वैराग्य– इन दो पुरुषों को जन्म दिया। देखी और सुनी हुई वस्तुओं में जो लगाव है, उसका त्याग ही वैराग्य है। जब इससे उदासीन हो गये तो विवेक का अभ्यास कि सत्य क्या है? अनित्य क्या है? शाश्वत क्या है? नश्वर क्या है?– इसकी छानबीन करना विवेक है। सत्य

एकमात्र आत्मा है। उस आत्मपथ पर आरूढ़ रहने की क्षमता का नाम विवेक है फिर वह लक्ष्य से कभी विचलित नहीं होता। इसी का दूसरा नाम अभ्यास है– '**अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।**' *(गीता, 6/35)*। अयुक्त मन भी अभ्यास और वैराग्य के द्वारा भली प्रकार स्थित हो जाता है। भक्ति ने इन दो पुरुषों को जन्म दिया। '**बूझो पण्डित ज्ञानी**'– कोई पण्डित हों, ज्ञाता हों तो इसे समझें। यह सबके समझने की क्षमता वाली वार्ता है ही नहीं। कबीर जानते थे कि मैं जिस स्तर की बात कहता हूँ उसे समझने की क्षमता किनमें हैं? अतः कहा कि कोई ज्ञानी हों, पण्डित हो तो समझें। अग्रेतर पंक्ति में कहते हैं–

पाहन फोरि गंग इक निकसी, चहुँ दिसि पानी पानी।

हमारा हृदय जड़ हो गया है, मल-आवरण-विक्षेप के द्वारा चट्टान जैसा हो गया है इसीलिए इसमें भगवान नहीं दिखायी देते। उस विवेक और वैराग्य के सतत् अभ्यास का परिणाम अगले स्तर में यह मिला कि हृदय की जड़ता को तोड़कर ज्ञानरूपी गंगा का संचार हो गया।

गंगा जमुना खूब नहाये, गया न मन का मैल।
आठ पहर जूझत ही बीता, जस कोल्हू का बैल॥

चोलिया काहे न धुलाई, सुन्दर बाँके जोगिया। चोलिया....॥

गंगा-जमुना जैसी पवित्र नदियों में बहुत स्नान किया किन्तु मन का मैल दूर नहीं होता। इन आरम्भिक प्रयासों से पुण्य की वृद्धि तो होती है लेकिन स्नान के पश्चात् जब हम आप बाहर निकलते हैं, अनेक नवीन पापों का सृजन कर लेते हैं किन्तु ज्ञान एक ऐसी गंगा है जब उसमें एक बार अवगाहन कर पवित्र हो गये तब पुनः आत्मा में कोई दाग लगता ही नहीं। इसलिए भगवान श्रीकृष्ण ने कहा– '**न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।**'– ज्ञान के समान सृष्टि में पवित्र करनेवाला निःसन्देह कुछ भी नहीं है। उस ज्ञान को पायें कहाँ?

तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दन्ति। *(गीता, 4/38)*

उसको तू स्वयं (परिश्रम तुम्हें ही करना होगा) योग के आरम्भकाल में नहीं, योग के मध्य में नहीं बल्कि योग की सिद्धिकाल में अपनी आत्मा के अन्दर देखेगा। ज्ञान कुछ भी याद करने का नाम नहीं है। ज्ञान आत्मदर्शन के साथ मिलनेवाली स्थिति है, भगवान की प्रत्यक्ष जानकारी का नाम ज्ञान है। बाह्य गंगा उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल में बहती है किन्तु यह हृदयवाली गंगा सर्वत्र फैल जाती है- **'चहुँ दिसि पानी पानी'**।

सरगु नरकु अपबरगु समाना। जहँ तहँ देख धरें धनु बाना।।

(रामचरितमानस, 2/130/7)

न तो स्वर्ग स्वर्ग के रूप में रह गया जिसकी अब कामना करें, और न नर्क नर्क के रूप में रह गया जिससे हम भयभीत हों। जहाँ भी दृष्टि पड़ी, अपने आराध्य देव का स्वरूप देखा, ईश्वरीय अनुभूति देखा- इसी का नाम ज्ञान है जिसका प्रसार सर्वत्र हो गया।

'तेहि पानी दुई पर्वत बूड़े'- दुई अर्थात् द्वैत! हम अलग हैं, प्रभु अलग हैं- यही द्वैत की विशाल चोटी है। यही भक्त और भगवान के बीच विभाजक रेखा है। इसी मान ने प्रभु से अलगाव बना रखा है। ज्ञान की पराकाष्ठा में द्वैत का शिखर डूब गया। प्रभु अलग हम अलग- यह भेद समाप्त हो गया, अभेद स्थिति मिल गयी तो **'दरिया लहर समानी'**- हृदय-देश में ज्ञान की परिपक्वता आते ही असीम आनन्द की लहर समा जाती है। लोग कहते हैं- परमात्मा में असीम आनन्द है, अनन्त सुख है; आज कहने के लिए है किन्तु यह उस क्षण की बात है जब हृदय में द्वैत की जो दो चोटियाँ हैं, वह आप्लावित हो जायँ और वहाँ भी ईश्वर का वास हो जाय; वहाँ ज्ञान छा जाय, वह ज्ञानरूपी गंगा में डूब जाय। जो योगी इस स्थिति को प्राप्त करता है वही कहता है कि परमात्मा में असीम आनन्द और शाश्वत सुख है। यह भक्ति का परिणाम है जिसकी प्राप्ति का स्रोत बताते हैं- **'भगति सदगुरु आनी'**। सद्गुरु ने लाकर प्रदान कर दिया। भक्ति उनके क्षेत्र की वस्तु है, जिसमें चाहें जागृत कर दें। इस भक्ति में होता क्या है, इस पर कहते हैं-

उड़ि माखी तरुवर को लागी, बोले एकै बानी।

मनरूपी मक्खी! यही विषय विकाररूपी हैजा को फैलानेवाली है–

मन ही आपै जगत बना के, ऊँच नीच तन पाया।
मन ही सरग नरक भुगतावे, मन से आया जाया।

सन्तो! मन सबको भरमाया॥

मन ही स्वर्ग का भोग करता है, मन नरक भोगवाता है, मन से ही संसार में आना-जाना है, जन्मना और मरना लगा है। सारे अनर्थों की जड़ मन है। यह मनरूपी मक्खी उत्थान होते-होते **'तरुवर को लागी'**– उस मूल परमात्मा में जा लगी। जैसा भगवान श्रीकृष्ण ने गीता के अध्याय 15 के प्रथम श्लोक में संसार को एक वृक्ष की संज्ञा देते हुए कहा–

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥ *(गीता, 15/1)*

ऊपर परमात्मा जिसका मूल है, नीचे कीट-पतंगपर्यन्त प्रकृति जिसकी शाखा-प्रशााखा है, संसार अश्वत्थ का ऐसा एक वृक्ष है। वेद इस वृक्ष के पत्ते हैं। जो इस वृक्ष को मूलसहित जानता है वह वेदवित् है, वेदज्ञ है।

सन्त कबीर कहते हैं– मनरूपी मक्खी उत्थान करते-करते मूल परमात्मा अर्थात् अपने उद्‌गम का स्पर्श किया तो **'बोले एकै बानी'**। इस लक्ष्य की प्राप्तिवाला महापुरुष समाज में कभी दरार नहीं डाल सकता कि आपका भगवान काला है हमारा गोरा, हमारा बड़ा या दाढ़ीवाला– ऐसा कभी नहीं कह सकता। यदि वह समाज में ऐसी दरार डालता है तो उस गरीब बिचारे ने अभी कुछ पाया ही नहीं है। प्राप्तिवाले सभी महापुरुष एक ही वाणी बोलते हैं कि परमात्मा एक है। उसके स्पर्श के साथ वह उसी भाव को प्राप्त हो जाता है।

ता माखी को माखा नाहीं, गरभ रहा बिनु पानी।
सन्तो! भगती सदगुरु आनी॥

जहाँ मनरूपी मक्खी ने उस मूल का स्पर्श किया तो '**जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई।**'– उन्हें जानकर वह भी वही हो गया। '**तुम्हरी कृपा पाव कोइ कोई।**'– प्रभु! आपकी कृपा से कोई-कोई विरला ही पाता है। वह आपको किस रूप में प्राप्त करता है कि आपको जानकर आपका स्वरूप ही हो जाता है। सेवक सदा के लिए खो जाता है, स्वामी ही शेष बचता है। अलग से कोई स्वामी नहीं रहा इसलिए '**गरभ रहा बिनु पानी**'– ईश्वर-प्राप्ति का गर्व शेष रहता है कि अहं ब्रह्मास्मि, एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति, प्रज्ञानम् ब्रह्म! इसी स्थिति को अन्यत्र कहते हैं– '**कोई अपने में देखा, साईं सन्त अतीत।**' वह अपने स्वरूप में ही अपने को देखता है। यही है गर्भ! वह शुद्ध स्वरूप की स्थितिवाला हो गया।

अब जिसे पाना था, पा ही लिया; आगे कोई सत्ता बची ही नहीं तो भजन करके ढूँढ़े किसे? वह भजन करता ही रहेगा या अन्त में कभी इससे छुट्टी भी मिलती है? इस पर कहते हैं–

नारी सकल पुरुषवै खाये, ताते रहत अकेला।

वैराग्य, विवेक इत्यादि जिन जिनको भक्ति ने आरम्भ में जन्म दिया था, उनके द्वारा हृदय की जड़ता दूर हुई, ज्ञानरूपी गंगा का स्रोत मिल गया, द्वैत का विशाल शिखर डूब गया। मनरूपी मक्खी मूल तक की दूरी तय कर मूल भाव को प्राप्त हो गया। अब कोई सत्ता बची नहीं जिसकी वह शोध करे, इसलिए विवेक और वैराग्य की अब कोई आवश्यकता ही नहीं रहती। राग है ही नहीं तो वैराग्य किसके लिये करे? स्वरूप में स्थित है तो विवेक द्वारा किस आत्मा को देखे? इसलिए भक्ति की अधिकतम सीमा तब है जब ज्ञान, विवेक, वैराग्य– इनकी आवश्यकता न रह जाय। '**नारी सकल पुरुषवै खाये**', '**ताते रहत अकेला**'– इसलिए वह अकेला है, स्वयम् की स्थिति में है।

कह कबीर जो अबकी बूझै, सोई गुरु हम चेला।
सन्तो! भगती सदगुरु आनी॥

कबीर कहते हैं अब जो स्थिति है इसको जो समझे, जो परख ले, देख ले वह गुरु है। गुरु एक पद है, एक स्थिति है। तब की नहीं जब गुरु की शरण गये थे, विवेक-वैराग्य आरम्भ किया था। शनैः शनैः हृदय की जड़ता टूटी, ज्ञान का संचार हुआ, मूल का स्पर्श कर लिया; आगे कोई सत्ता बची ही नहीं जिसके लिए शोध जारी रखें। अस्तु, विवेक-वैराग्य की भी आवश्यकता नहीं रही। अब जो स्थिति-विशेष है उसे जो पहचान ले, बूझ ले, प्राप्त कर ले वही गुरु है। इस स्तरवाले स्वयं तो सद्गुरु होते ही हैं, दूसरों को भी तारने की क्षमता रखते हैं।

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं– इस कर्म को किये बिना न कोई पाया है और न भविष्य में कोई प्राप्त कर सकेगा; इसलिए अर्जुन! तू इस नियत कर्म को कर। इस कर्म का परिणाम बताते हैं– जहाँ आत्मा विदित हो गयी, आत्मा में ओत-प्रोत और स्थित है, तृप्त है उस पुरुष के लिए कर्म करने से न कोई लाभ है और न छोड़ने से कोई हानि; फिर भी वह पीछेवालों के हित के लिए क्रिया में बरतते हैं जबकि स्वयं उनके लिए कोई लाभ-हानि नहीं है। *(गीता, अध्याय 3)*

यही सन्त कबीर का सन्देश है कि भजन के आरम्भ में विवेक-वैराग्य का अनुसंधान आवश्यक था किन्तु पूर्णता में **'नारी सकल पुरुषवै खाये'**– जिन-जिन को भक्ति ने जन्म दिया था, उन्हें अपने में समाहित कर लिया। **'ताते रहत अकेला'**– शोध के लिए कोई अन्य बचा ही नहीं। अब जो स्थिति-विशेष है, उसे जो प्राप्त कर ले वह गुरु है। इसी स्तरवाले पूर्णपुरुष सद्गुरु कहलाते हैं। इसी लक्ष्य को विदित करनेवाला ही यह कहने का दावा कर सकता है कि मैं शिष्य हूँ। अन्यथा–

हाट के गुरु बाट के चेला। दोऊ नरक में ठेलम ठेला।।
कल का मुड़िया आज अकेला।।

* * *

शिष्य शिष्य सबही कहे, शिष्य भया ना कोय।
पलटू गुरु की वस्तु को, लखे शिष्य तब होय।।

सब शिष्य ही तो बनते हैं कि मैं महाराजजी का चेला हूँ, उन महापुरुष का शिष्य हूँ किन्तु सच्चे अर्थों में कोई शिष्य नहीं बन पाया। सन्त पलटू कहते हैं कि गुरु की वस्तु भक्ति को जो प्राप्त कर ले, उसके अनुसार साधना करे, साधना के परिणाम में मूल का दर्शन कर ले, वह रहनी पा जाय- यह सब गुरु की वस्तु है, जो इसे प्राप्त कर ले वही शिष्य है। अन्य न कोई गुरु है, न शिष्य।

सारांशतः '**भगति सदगुरु आनी**'- भग इति स भक्ति! भग कहते हैं त्रिगुणमयी प्रकृति को। इसका अन्त कर देनेवाली जो प्रक्रिया विशेष है, वह सद्‌गुरु के द्वारा ही प्राप्त होती है। इसे पाने का कोई अन्य उपाय नहीं है।

हमारे अनुसुइया आश्रम (मध्य प्रदेश, भारत) में कई साधक साधना के आरम्भिक दिनों में दो-दो महीने तक घनघोर भजन करते। पूज्य महाराज जी उनसे पूछते थे- "बोल, ध्यान धरता है?" साधक धीरे से कहते- "हूँ!" तो महाराज कहते- "सरवा कहत है 'हूँ'! अरे मोर रूपवा कुच्छौ पकड़त तो मोरेहु भीतर खुटकत। हमें तो बिलकुल सन्नाटा दिखाई पड़त है।" कोई साधक गुरु महाराज का स्वरूप दो-ढाई महीने में पकड़ पाया तो किसी ने चार महीने बाद स्वरूप पकड़ा। जब उसने गुरु महाराज का स्वरूप पकड़ लिया, तत्काल अनुभव जागृत हो जाता था। गुरु महाराज कहते, "बस बेटा! भजन जागृत हो गया, राम-रावण युद्ध शुरू हो गया। अब जब रावण मारा जायेगा, राम का राज्याभिषेक हो जायेगा तभी यह युद्ध बन्द होगा। बीच में कभी नहीं बन्द होगा। अब, जा कर भजन!"

भक्ति की एक निश्चित दिशा है, कुछ भी कर गुजरने का नाम भक्ति नहीं है। इसमें सद्‌गुरु के हाथ का यन्त्र बनकर चलना पड़ता है। केवल चार आँसू रो लेना ही भक्ति नहीं है। हाँ, यह प्रवेशिका के लिए प्रयास अवश्य है।

॥ ॐ ॥

अमृतवाणी

(कैसेट संख्या– 7:2)

नाव बिच नदिया डूबी जाय

संसार में घटनायें घटती रहती हैं कि जहाज डूब गया, कहीं बेड़ा डूब गया, नाव डूब गयी; किन्तु अनादिकाल से आज तक ऐसा सुनने को नहीं मिला कि नाव के बीच में ही नदी डूब जाय। किन्तु आध्यात्मिक रूपकों में कुछ ऐसा ही है। यह भव सरिता है, नियम ही नौका है। यदि नियम भली प्रकार पार लग गया, मनसहित इन्द्रियों का संयम और संयम के साथ चिन्तन, भजन का नियम-पालन होने लगा, एक दिन ऐसा आता है कि इसी के अन्तराल में भवसरिता सिमटकर समाहित हो जाती है, समाप्त हो जाती है। जो डूब गया वह मर गया। उसकी जीवनलीला सदा के लिए समाप्त हो जाती है–

नामु लेत भव सिन्धु सुखाहीं। करहु विचार सुजन मन माहीं॥

(रामचरितमानस, 1/24/4)

नाम लेते ही भवसागर सूख जाता है और सन्त कबीर कहते हैं कि डूब जाता है। बात एक ही है। सूख जाय तब भी मिट गया और डूब गया तब भी समाप्त हो गया– समानार्थक हैं। संसार नाम का कोई समुद्र प्रत्यक्ष नहीं है। आपके मन और इन्द्रियों की चेष्टाओं को समुद्र की उपमा दी गयी है। जिस किसी ने मनसहित इन्द्रियों को संयमित कर लिया, वह संसार-सरिता या भवसिन्धु से पार पा गया। संसार तो एक ही है किन्तु पात्रभेद से इसके कई रूप देखने को मिलते हैं; जैसे–

भव सिन्धु अगाध परे नर ते। पदपंकज प्रेम न जे करते॥

(रामचरितमानस, 7/13/10)

अथाह भवसिन्धु में वे लोग पड़े रहते हैं जो प्रभु के चरण कमलों में प्रीति नहीं करते अर्थात् जो कुछ भी नहीं करते, उनके लिए भवसागर अथाह है।

'करउँ कथा भव सरिता तरनी।' *(रामचरितमानस, 1/30/4)*– गोस्वामी जी ने अपने गुरु महाराज से जो राम-कथा सुनी अर्थात् ब्रह्मविद्या जब पकड़ में आती है तो वह कथा भवसरिता से नाव की तरह पार कर देती है। राम की कथा पकड़ में आने पर अथाह भवसागर सरिता हो जाता है।

यह चरित जे गावहिं हरिपद पावहिं ते न परहिं भवकूपा।

(रामचरितमानस, 1/191 छन्द)

भगवान के चरित्र का जो सतत् चिन्तन करेंगे, ध्यान करेंगे (यह गायन श्वास से होता है) तो एक स्तर ऐसा आता है कि अथाह भवसागर कूप जितने आयतन में सिमट जायेगा। भगवान की कृपा बरसने लगती है, उस समय–

गरल सुधा रिपु करइ मिताई। गोपद सिन्धु अनल सितलाई।।

(रामचरितमानस, 5/4/2)

गरुड़ जी! भगवान यदि कृपा करके देख लें तो भवसिन्धु गोपद जितना ही रह जाता है। गोपद का अर्थ गाय के पाँव का खुर नहीं बल्कि गो अर्थात् मनसहित इन्द्रियाँ। उस समय मनसहित इन्द्रियों का जितना आयतन है उतना ही संसार है। बाहरी संसार, संग-दोष बाधक नहीं रह जाते। स्तर उन्नत होने पर–

बारक राम कहत जग जेऊ। होत तरन तारन नर तेऊ।।

(रामचरितमानस, 2/216/4)

जप करते-करते केवल एक नाम में तल्लीनता की अवस्था जिस क्षण आती है तो **'नाम लेत भव सिन्धु सुखाहीं'**– भवसिन्धु सूख जाता है, साधक तर जाता है और दूसरों को भी पार करने की क्षमता उसमें आ जाती है। अब पथिक को डूबने का, गिरने का, बह जाने का कोई खतरा नहीं रह

जाता। इस प्रकार विविध दृष्टियों से महापुरुषों ने संसार की अगाधता को सम्बोधित किया।

गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने संसार को सागर कहा। अर्जुन! जो मेरा समर्पित भक्त है, उसे मैं संसार सागर से पार कर देता हूँ– **'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।'** *(गीता, 12/7)*

इस प्रकार सन्त कबीर कहते हैं कि मनुष्य यदि मनसहित इन्द्रियों को समेटकर नियमरूपी नौका पर आरूढ़ हो जायेगा तो एक समय ऐसा आयेगा कि भवसरिता ही नियमरूपी नौका में डूब जायेगी। उनका भजन इस प्रकार है–

नदिया डूबी जाय।
नाव बिच नदिया डूबी जाय॥

एक अचम्भा ऐसा देखा, कुएँ में लागी आग।
पानी पानी जल गया, तब मछली खेले फाग॥ नाव बिच....॥

एक अचम्भा ऐसन देखा, बन्दर दूहे गाय।
दूध दही तो अपनै खावै, घिया बनारस जाय॥ नाव बिच....॥

एक अचम्भा औरउ देखा, गिरगिट गवने जाय।
सोलह गज की साड़ी पहने, पूँछ उघारे जाय॥ नाव बिच....॥

एक अचम्भा ऐसन देखा, मुर्दा रोटी खाय।
सनकारे ते बोलत नाहीं, मारे ते चिल्लाय॥ नाव बिच....॥

एक अचम्भा ऐसा देखा, गदहा के दो सींग।
चींटी के गले रस्सा लागल, खींचत अर्जुन भीम॥ नाव बिच....॥

एक चींटी के मूतले संतो, नदी नार बहि जाय।
पापी नैया पार उतरि गये, धरमी डूबैं मझधार॥ नाव बिच....॥

कहत कबीर सुनो भाई साधो, यह पद है निरबानी।
जो या पद को अरथ बिचारे, सोई सन्त सुजान॥ नाव बिच....॥

नाव में नदी डूब जाती है! कैसे? अनायास डूब जाती है या कुछ करना पड़ता है? अकस्मात् डूब जाती है या क्रमशः? इस पर वे कहते हैं– **'कुएँ में लागी आग'**– संसाररूपी कूप में योगाग्नि का संचार हो गया। अग्नि दो प्रकार की है– एक तो विषयाग्नि जो जीव को त्रय-तापों की ज्वाला में जलाती है; और दूसरी है योगाग्नि जो हमारे विकारों को, संस्कारों को जलाती है। संसार में रहते हुए अभ्यास इतना उन्नत हुआ कि **'कुएँ में लागी आग'**– ज्ञानरूपी योगाग्नि प्रज्ज्वलित हो गयी जिससे **'पानी पानी जल गया'**– विषयरूपी वारि सदा के लिए समाप्त हो गया। तब **'मछली खेले फाग'**– भक्तिरूपी जल में मनरूपी मछली क्रीड़ा करने लगती है। आरम्भिक स्तर पर भक्ति करने में कष्ट ही कष्ट प्रतीत होता है किन्तु विषयरूपी वारि समाप्त होते ही मनरूपी मछली भक्ति-सरोवर में हिलोरे लेने लगती है। इसी आशय का संत कबीर का ही एक सोरठा है–

समँदर लागी आगि, पानी जलि कोइला भई।
देख कबीरा जागि, मछली रूखा चढ़ि गई।।

अब उस मछली के जीवन में सदा बहार है, सदा बसन्त खिलने लगता है, फिर उसके जीवन में कोई दुःख नहीं रह जाता।

एक अचम्भा ऐसा देखा, बन्दर दूहे गाय।

वैराग्यरूपी हनुमान, अनुरागरूपी अंगद, साधनरूपी जामवन्त, ब्रह्म आचरणमयी प्रवृत्ति वानरी सेना– युद्ध में ये मरते-जीते रहते हैं। अन्त में असुर सदा के लिए मर जाते हैं और ब्रह्म आचरण, जो मर गये थे, सब जीवित हो जाते हैं, सचेत हो जाते हैं।

सुधा वृष्टि भै दुहु दल ऊपर। जिए भालु कपि नहिं रजनीचर।।

(रामचरितमानस, 6/113/6)

इतने दिनों के युद्ध में जितने भी भालू, कपि वीरगति को प्राप्त हुए थे, जीवित हो उठे; किन्तु राक्षस जीवित नहीं हुए। अमृत अर्थात् मृत्यु से परे जो सत्ता है, परमात्मा जो अजर-अमर, नित्य और शाश्वत है, जब उसका सूत्रपात

होता है तब आसुरी सम्पद् सदा के लिए शान्त और दैवी सम्पद् सदा-सदा के लिए विकसित हो जाती है।

तीव्र वैराग्य द्वारा गो अर्थात् मनसहित इन्द्रियों को दुहा जाता है। **'दूध दही तो अपनै खावे'**– मनसहित इन्द्रियों के अन्तराल में ही ब्रह्म-पीयूष की अनुभूति होने लगती है। दही ध्यान का प्रतीक है, ध्यान लगने लगता है। ज्ञान और ध्यान की मस्ती का वह स्वयं उपभोग करता है और **'घिया बनारस जाय'**– सारतत्व परमात्मा कायारूपी काशी में संग्रहीत होता चला जाता है। यही घी का बनारस जाना है।

एक अचम्भा ऐसा देखा गिरगिट गवने जाय।

चौरासी लाख योनियों में छिपकली जैसा एक जीव गिरगिट है। वह शादी-विवाह के पश्चात् पतिगृह गौने क्या खाक जायेगा? अध्यात्म में गिर-गिर के सँभलना ही गिरगिट है। **'कदम चूम लेती है आकर के मंजिल, मुसाफिर अगर अपनी हिम्मत न हारे।'** प्रभु की मंजिल उसे ही मिलती है जो पथ के तूफानों से लड़ता जाय। चाहे प्रलय के बादल घिरे हों, आगे ही आगे बढ़ता जाय। ईश्वरपथ फूलों की सेज नहीं है। यह काँटों का रास्ता है। महात्माओं को संसार से प्रायः कष्ट मिला है। संत ज्ञानेश्वर, नरसी मेहता, कबीर, मीरा, तुलसी इत्यादि किसी को समाज ने चैन से रहने नहीं दिया। स्वामी दयानन्द को जहर मिला। विश्वामित्र की तीन बार दुर्दशा हुई। माया का संघर्ष आता ही है। यह आपको धकेलेगी, खींच लेगी, ठोकर लगायेगी, धक्का देगी, गिरा देगी; फिर भी गिर-गिरकर सँभलनेवाला, लाख मुसीबतों के बावजूद लक्ष्य से चलायमान न होनेवाला अन्ततः अपने स्वरूप की ओर गमन कर जाता है। गिरने पर और भी वेग से, अनुराग से प्रभु का भजन करना चाहिए। उसे सोचना चाहिए कि जैसा रोग था, उस अनुपात से औषधि नहीं ली गयी। अतः पतन के पश्चात् भी निराश, हताश जो नहीं होता, गिरा और सँभला– इस प्रकार गिरगिट भी गवने चला जाता है। वह परमात्मा की ओर बढ़ जाता है तो–

'सोलह गज की साड़ी पहिने'– प्रियतम के घर पहली बार जानेवाली नववधू का शृंगार भी चाहिए। सत्य ही साड़ी है। सत्य मात्र परमात्मा है। वह सोलह तत्त्वों के सूक्ष्म शरीर से वेष्ठित है। यह सूक्ष्म शरीर अन्तःकरण या मन का संसार है जिसमें हैं– दस इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, तेजस और प्राज्ञ! इस सम्पूर्ण सूक्ष्म शरीर में, अन्तःकरण में सत्यरूपी साड़ी को साधक धारण करके प्रियतम के घर जाता है। यदि अन्तःकरण में परमात्मा का तेज आया, उसका पराग, खुशबू नहीं उतरा तो साधक गमन नहीं कर पायेगा। सत्यरूपी साड़ी को धारण करके अन्तःकरण में परमात्मा के अतिरिक्त अन्य चिन्तन, स्फुरण न रखनेवाला साधक प्रभु के धाम में पहुँच जाता है।

'पूँछ उघारे जाय'– वह तो पहुँच ही जाता है, साथी ही पीछे वालों के लिए कीर्तिमान, पथ की पहचान छोड़ जाता है। उसी के पदचिह्नों से भावी समाज प्रेरणा ग्रहण करता और चलने का प्रोत्साहन प्राप्त करता है। आज भी लोग कबीर का नाम लेते हैं, तुलसी का नाम लेते हैं, मीरा का उदाहरण देते हैं, अपने गुरु महाराज के जीवनादर्श और आत्मानुभूति के प्रसंगों से अपना रास्ता प्रशस्त कर लेते हैं।

संसार में लोग नाम के लिए ही पद-प्रतिष्ठा-ऐश्वर्य संग्रह करते जाते हैं। अच्छी से अच्छी उपाधियाँ रखनेवालों को इतिहास में कहीं कोई लेखा-जोखा नहीं मिलता। आप अपना आचरण सही करें, वही आपका नाम है, वही शेष रहेगा, उसी से आपकी पूछ रहेगी। महापुरुष अपने अन्तःकरण में, सूक्ष्म शरीर में सत्य मात्र परमात्मा की साड़ी धारण कर लेता है, अन्य संकल्प, संस्कार शान्त हो जाते हैं। उस अवस्था में वह परमात्मा के धाम पहुँच जाता है, उन्हीं का कीर्तिगान रह जाता है। मीरा को उसकी सास ने कुलनाशी की उपाधि दे रखा था। आज उस कुलवन्ती सास को कोई नहीं जानता; मीरा को पूरा विश्व जानता है, उससे लोग प्रेरणा पाते हैं।

एक अचम्भा ऐसन देखा, मुरदा रोटी खाय।

सन्त कबीर ने एक घनघोर आश्चर्य देखा, जैसा पहले किसी ने देखा-सुना भी न था कि मुर्दा रोटी खाता है। उनकी मान्यता थी–

जीवत में मरना भला, जो मर जाने कोय।
मरने से पहले मरे, अजर अमर सो होय॥

जीते जी मर जाना अच्छा होता है, यदि कोई मरने की कला जान ले। **'मरने से पहले मरे'**– यदि कोई शरीर छूटने से पहले मर जाय तो **'अजर अमर सो होय'**– वह अजर-अमर परमात्मा में स्थिति पा जाता है। वास्तव में,

मन मरा माया मरी, हंसा बेपरवाह।
जाका कछू न चाहिए, सोई शाहंशाह॥

शरीर की मृत्यु वास्तविक मृत्यु नहीं है। यह तो मात्र कलेवरों का परिवर्तन है। आज यह शरीर छूटा, तत्काल दूसरा शरीर आरक्षित है। भगवान की करुणा या अपने संस्कारों के अनुरूप शरीर छूटते ही पुनर्जन्म मिलता है किन्तु यदि शरीर की आयु रहते मन और मन के अन्तराल के संस्कार यदि मिट जायँ तो शरीर धारण करने का कारण ही समाप्त हो जाय। वही मृत्यु सराहनीय है जिसके पीछे जन्म नहीं है और इसी प्रकार वही जन्म सराहनीय है जिसके पीछे मृत्यु नहीं है। संस्कारों का यह उन्मूलन जीते जी होता है, मरने के बाद नहीं–

अवधू! जीवत में कर आसा।
मुए मुक्ति गुरु कहै स्वार्थी, झूठा दे विश्वासा॥
जीयत मन बस हुआ नहीं, तो पुनि देवे बहु त्रासा।
जहँ आसा तहँ बासा, अवधू! मन का यही तमासा॥

इस प्रकार शुद्ध मृत्यु है मन की मृत्यु, मन के अन्तराल में संस्कारों की मृत्यु! कबीर कहते हैं– **'एक अचम्भा ऐसन देखा, मुरदा रोटी खाय'**– जहाँ मन मिट गया, वह रोटी खाने लगता है। इस शरीर का पोषण रोटी-

दाल-अन्न इत्यादि हैं किन्तु आत्मा की खुराक हृदय की धारा में रहना, स्वाँस में रमण करना है। भजन ही भोजन है जो आत्मा की खुराक है, जो इस आत्मा को सदा-सदा के लिए पूर्ण तृप्त, शाश्वत जीवन और अनन्त धाम प्रदान करता है। जब मन सब ओर से सिमट कर हृदय की चिन्तन-धारा में रमण करते हुए मृतप्राय हो गया तब **'मुर्दा रोटी खाय'**– यह मुर्दा मन आत्मा की खुराक भजन को प्राप्त करने लगता है। जब तक मन जीवित है, तब यह विषयों का चक्कर काटता रहता है; रोटी कहाँ, भजन कहाँ?

'सनकारे से बोलत नाहीं'– भजन में अनुरक्त मन संकेत करने पर भी संसार की ओर ध्यान नहीं देता। उसमें कितना ही विक्षोभ पैदा करें, उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। गाली भी दें, उसे पता ही नहीं चलेगा। उसे आप भला कहें, बुरा कहें– कोई अन्तर नहीं पड़ता; किन्तु **'मारे ते चिल्लाय'**– कोई संगदोष जब इन्द्रियों में विकार जागृत कर देता है, यह योगी के लिए सबसे बड़ी मार है, वह विकल हो जाता है। यह मार काम की है, क्रोध की है, लोभ की, राग-द्वेष की है। इनमें से कहीं जब कोई ठोकर मार देता है तब वह चिल्लाता है कि 'प्रभु बचायें! रक्षा करें! मैं आपकी शरण हूँ।' इस निवेदन के साथ यदि नियम का सुचारु रूप से पालन करते जायँगे तो भव नदी सिमटते-सिमटते नियम के अन्तराल में डूबती चली जायेगी और एक दिन सर्वथा डूब जायेगी।

एक अचम्भा ऐसा देखा, गदहा के दो सींग।

गधे को सींग होती ही नहीं! गधा जड़ता का प्रतीक है। कहते हैं कि रावण का एक सिर गधे का था। मोहरूपी रावण! मोह के ऊपर एक मूढ़ता का सिर रहता है। मनसहित इन्द्रियों में जब तक जड़ता है, द्वैत के दो भयंकर सींग अर्थात् शूल विद्यमान रहते हैं जो जीवों को छेदते रहते हैं। मैं अलग हूँ, ईश्वर भिन्न है; यह संसार सत्य है या वह परमात्मा?– यही द्वैत का भान जीव के लिए फाँसी है।

जो निज मन परिहरै विकारा।
तौ कत द्वैत जनित संसृति दुख संसय सोक अपारा।।

(विनयपत्रिका, 124)

गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं यदि अपना मन विकारों का त्याग कर दे तो द्वैत से उत्पन्न अपार सांसारिक दुःख, अपार शोक भला क्यों रहे? मन में जब तक जड़ता है, तभी तक ये शूल विद्यमान रहते हैं। जहाँ जड़ता मिटी, द्वैत का अन्त हो जाता है। द्वैत के इन शूलों से बच निकलने का उपाय क्या है? इस पर कहते हैं–

'चींटी के गले रस्सा बाँधे'– योगी के संयत चित्त को महापुरुषों ने चींटी की संज्ञा दी है। चित्त तो इतना बड़ा है जितना बड़ा संसार– **'तुलसीदास कह चिदविलास जग, बूझत बूझत बूझै।'**– लेकिन अभ्यास करते-करते चित्त सिमटते-सिमटते इतना सूक्ष्म हो जाता है जैसे बारीकवाली चींटी; किन्तु तब भी द्वैत विद्यमान रहता है। उस चित्तरूपी चींटी के गले में सुरत की रस्सी लगाकर **'खींचत अर्जुन भीम'**– अनुराग ही अर्जुन और भाव ही भीम है। अनुराग और भाव के द्वारा इस चित्त को इष्ट के चरणों में खींचो। उस अवस्था में द्वैत के सींग समाप्त हो जायँगे, प्रभु ही शेष बचेंगे। सेवक खो जाता है, स्वामी ही शेष बचता है।

एक चींटी के मूतल सन्तों, नदी नार बहि जाय।

स्थिर चित्त, प्रभु में स्थितिप्राप्त योगी के मुख से जो शब्द निकलते हैं प्रत्यक्ष दर्शन है, अनुभवगम्य वाणी है। महापुरुष की बुद्धि मात्र यन्त्र होती है। वह जो कुछ कहता है, परमात्मा प्रदत्त है। उसके माध्यम से परमात्मा ही प्रसारण करता है। वह गीता बन जाता है, वेद बन जाता है, उपनिषद् और रामायण बन जाता है।

पापी नैया पार उतरि गये, धरमी डूबें मझधार।

सामाजिक रीति-रिवाज, लोक-मर्यादा और सांसारिक व्यवस्थाओं को तिलाञ्जलि देनेवाले, भले ही समाज उन्हें पापी कहता रहे कि अभी इनकी

क्या साधु बनने की उम्र है? अभी तो छोटा पुत्र स्तनपान ही कर रहा है, उसे अपने पैरों पर खड़ा तो हो लेने देते! अपनी माँ को कन्धा तो दे देता! कोई भजन करने निकल भर जाय, आक्षेपों की झड़ी लग जाती है। घर में कोई भूखों मर रहा हो, समाज के लोग आगे बढ़कर उसके लिए दो रोटी का प्रबन्ध नहीं करते। लड़का अच्छा-बुरा कुछ भी हो, साधु न बनने पाये। समाज की दृष्टि में ऐसे पापी व्यक्ति महापुरुषों की वाणी पकड़कर भवसागर से पार हो जाते हैं; किन्तु मातृ-ऋण, पितृ-ऋण, लोक-ऋण, देशभक्ति, मानव-सेवा इत्यादि तथाकथित धर्मों में अनुरक्त भवसागर की मध्य धारा में डूब जाते हैं।

महापुरुष की वाणी में परमात्मा के दर्शन का विधान रहता है। उन्होंने कृपापूर्वक जिन-जिन को सहयोग दिया, वे भवसागर के पार चले गये। इसीलिए पूज्य गुरु महाराज कहते थे– "हो! सब दानी ही तो बने हैं। 'हाथी स्वान लेवा देई'– हाथी लेकर बदले में कुत्ते का दान करते हैं। माँगनेवाले भी सौ रुपये के बदले हाथी माँगते हैं। शुद्ध दाता तो मैं हूँ जो मुक्ति-दान देता हूँ और वह भी निष्प्रयोजन! केवल उसके हित के लिए! हमारा कोई प्रयोजन नहीं। साधक हमें कुछ नहीं देता।"

एक बार गुरु महाराज ने कहा– "गुरु का धन नहीं खाना चाहिए। गुरु का धन खाने से नरक होता है।" इतना सुनते ही दो-एक साधक प्रातः उठकर गायब हो गये और दोपहर में लौट आये। गुरु महाराज ने पूछा, "कहाँ गये थे?" उन्होंने कहा– "महाराज जी! हम भिक्षा करने गये थे। आपने कहा था कि गुरु का धन नहीं खाना चाहिए।"

महाराज जी बोले– "हूँ! करे भीख माँगे गया रहा?" साधक ने कहा– "हाँ महाराज! चेतावै गये रहे।" महाराज जी ने उन्हें समझाते हुए कहा– "देखो! गुरु के ऋण से इस प्रकार उऋण नहीं हुआ जा सकता। गुरु की विद्या पकड़ो, योगविधि समझो, उसका आचरण करके जो अधिकतम सीमा है वहाँ तक की दूरी तय कर लो। तब हमारा जो खाओगे, चुकता होता चला जायेगा। भजन में कटौती करके भीख माँगने से गुरु का कर्ज पटा ही नहीं।" बस उसी

दिन से सबका भ्रम दूर हो गया और सभी साधक तल्लीन होकर भजन में लग गये।

गुरु महाराज ने उदर-पोषण के लिए कभी भीख नहीं माँगा था जबकि दो उपवास, तीन उपवास आये दिन की घटना थी। कभी-कभी सात-सात दिनों तक और एक बार तो चौदह दिनों तक निराहार रहना पड़ा। कभी किसी को भगवत्प्रेरणा हो जाती कि इन महात्मा की सेवा करो, किसी को स्वप्न में दिखाई पड़ता तो कोई स्वभावतः महाराज जी को भोजन करा देता; किन्तु महाराज जी ने याचना नहीं की। उनकी मान्यता थी कि जब भगवान मोके साधु बनाये हैं तो हमारे लिए भोजन की व्यवस्था भी जब वे आवश्यक समझेंगे, करेंगे।

कहत कबीर सुनो भाई साधो, यह पद है निरबानी।

इस पद में जो तथ्य प्रस्तुत किया जा रहा है, वह वाणी का विषय नहीं। यह तो क्रियात्मक है, अनुभवगम्य है। इसे वही जान सकता है जिसके हृदय में वह प्रभु जागृत हो जायँ। **'जो इस पद का अर्थ विचारे, सोई सन्त सुजान।'**– इस पद में बताया हुआ जो अर्थ है, इस पर विचार कर उसके अनुसार साधना में लगें। वही सन्त है, वास्तविकता का ज्ञाता है।

सुनो भाई गप्प गुनो भाई सफ्फ, नाव बिच नदिया डूबी जाय।

सुनने में तो यह सब सरासर गप्प ही लगता है कि नाव में नदी डूब जाती हैं या चींटी के गले में रस्सा बाँधकर अर्जुन और भीम खींचते हैं या कुएँ में आग लग गयी, पानी जल गया तब मछली मस्ती काटने लगी, पानी था तब दुःखी थी। वाह्य दृष्टि से इससे झूठा कोई गल्प नहीं हो सकता किन्तु गुनने अर्थात् विचार करने पर सब कुछ स्पष्ट है, साफ-सुथरा प्रशस्त पथ है कि **'नाव बिच नदिया डूबी जाय'**– यदि आप सद्‌गुरु द्वारा प्रदत्त नियम का पालन करते जायँ तो एक समय ऐसा भी आयेगा कि भव-सरिता इसके अन्तराल में समाप्त हो जायेगी। ईश्वर-प्राप्ति के साथ ही प्रकृति पुरुषत्व में

विलीन हो जाती है, परमात्मा ही शेष बच रहता है। इसी का नाम है मोक्ष! कबीर की यह वाणी अटपटी नहीं है। उन्होंने वैदिक तथ्य को छिपाकर प्रस्तुत किया जिससे अधिकारी उसे प्राप्त कर लें और अनधिकारी उसका दुरुपयोग न कर सकें।

सन्त कबीर की ख्याति जब बढ़ने लगी, बहुत-से श्रद्धालु भाविक उनकी वाणी सुनने के लिए एकत्र होने लगे। राजा, महाराजा भी उनके दर्शनों से अपने को धन्य मानने लगे। रोगी भागकर रोगमुक्ति के लिए आने लगे। एक ने निश्चय किया– मैं कबीर साहब से ही गुरुमंत्र लूँगा क्योंकि मैंने सुन रखा है कि बिना गुरु के कल्याण नहीं होता और कबीर साहब महापुरुष हैं।

वह काशी पहुँचा और अन्वेषण क्रम में सीधा कबीर से ही जा टकराया। उन्हीं से पूछ बैठा, "सन्त कबीर साहब कहाँ निवास करते हैं?" कबीर ने कहा, "होगा कहीं कबीरवा!" कबीर का अपमान वह भाविक सहन न कर सका। एक चाँटा कबीर के गाल पर मारते हुए कहा, "इतने बड़े महापुरुष को 'कबीरवा' कहता है! तुम्हारी जिह्वा गलकर गिर जायेगी।"

कबीर ने मुँह घुमाकर दूसरी ओर का गाल उसकी ओर कर दिया और कहा, "एक चाँटा इधर भी लगा लो।" वह व्यक्ति झल्लाते हुए बोला, "बड़े निर्लज्ज हो।" आगे बढ़कर एक अन्य व्यक्ति से कबीर साहब का पता पूछने लगा। उसने बताया, "वह क्या कबीर साहब बैठे हैं।"

अन्य लोगों ने भी वही बताया। जब उसे पक्का निश्चय हो गया, वह दौड़कर कबीर साहब के पास आया और साष्टाङ्ग दण्डवत् करते हुए बोला, "मुझ मूर्ख से अनजाने ही भयानक भूल हो गयी। मैं तो मंत्र लेने आपकी शरण में आया था और आपको मार बैठा, क्षमा करें।" कबीर ने कहा, "तुमसे कोई भूल कहाँ हुई! लोग दो पैसे की हँड़िया खरीदते हैं, उसे तीन-चार बार ठोंक बजाकर देख लेते हैं कि कहीं सौदा कच्चा तो नहीं है। तुम तन-मन-धन मुझे अर्पित कर गुरु बनाने आये, ठोंक बजा लिया– अच्छा ही तो किया। एकाध बार और ठोंक बजा लो।" अस्तु,

सम मान निरादर आदरही, सब सन्त सुखी विचरन्त मही।

सन्तजन संसार के आक्षेपों, आदर और तिरस्कार– दोनों में समान भाव रखते हैं इसीलिए सुखपूर्वक विचरणरत रहते हैं।

ईश्वरपथ में केवल श्रद्धा लगती है। जिस भाव से सरभंग के पास राम पहुँचे, जिस लगन से सुतीक्ष्ण के पास पहुँचे, उसी लगन से राम शबरी के पास भी पहुँचे। यहाँ स्त्री-पुरुष का भेद नहीं है, जातिगत कुलीनता का प्रश्न नहीं है, केवल श्रद्धा का मूल्य है–

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥ *(गीता, 4/39)*

श्रद्धावान संयतेन्द्रिय तथा तत्पर पुरुष ज्ञान प्राप्त करता है और ज्ञान प्राप्त करते ही तत्काल परम शाश्वत शान्ति को प्राप्त कर लेता है। श्रद्धाविहीन किया हुआ कर्म, दिया हुआ दान, भजन-चिन्तन-संयम सब व्यर्थ चला जाता है। '**भावे विद्यते देवा**' इसीलिए श्रद्धा के साथ गुरु महाराज के निर्देशन के अनुसार साधन में प्रवृत्त हो जायँ तो भगवान अपनी सब अनुकूलताओं से आपको आप्लावित कर देंगे, मार्गदर्शन करने लगेंगे और आप समझते जायेंगे।

!! ॐ श्री सद्गुरुदेव भगवान की जय !!

अमृतवाणी

(कैसेट संख्या– 11:1)

पिया तोरी ऊँची रे अँटरिया

पिया तोरी ऊँची रे अँटरिया, अब देखत चली।

ऊँची अँटरिया जरद किनरिया, लगी नाम की डोरिया।
चाँद सुरुज सम दियना बरत हैं, ता बिच भूली डगरिया।।
अब देखत.......।।

पाँच पचीस तीन घन बनिया, मनवा है चौधरिया।
मुन्शी है कोतवाल ज्ञान का, चहुँ दिसि लगी बजरिया।।
अब देखत.......।।

आठ कोठरिया नौ दरवाजा, दसवें में बन्द किवड़िया।
खिड़की बैठि गोरी चितवन लागी, लग गयी झाप झलरिया।।
अब देखत.......।।

कहत कबीर सुनो भाई साधो, गुरु के बचन बलिहरिया।
चतुर लोग मिलि सौदा करिहैं, झंकत मुरख अनरिया।।
अब देखत.......।।

यह सन्त कबीर का एक भजन है। कबीर एक महापुरुष थे जैसा अनादिकाल से होते आये हैं। वह भजन तो एक परमात्मा का ही करते थे, लेकिन जब किसी ने पूछा, 'हजरत! क्या कर रहे हो?' तो वह कहते थे– मैं उस पिया को रिझा रहा हूँ– **'प्रियतम मोसे रूठल हो'**। परमात्मा को साईं, प्रियतम या पति कहकर सम्बोधित किया। प्रिय उत्तम स प्रियतम– वह प्रीति का सर्वोपरि माध्यम है। एक बार उससे सम्बन्ध जोड़ लेने के पश्चात् फिर

कभी विछोह नहीं होगा। साईं का तत्सम स्वामी है ही। इसी प्रकार पति अर्थात् पत का रक्षक, मर्यादा का निर्वाह करनेवाला!

मीरा ने कहा– **'मेरी पत राखो गिरधारी!'** मीरा के पति राणा भोजराज का देहावसान हो गया। तत्कालीन लौकिक रीति-रिवाज के अनुरूप लोगों ने उनसे अनुरोध किया– "आप पति के शव के साथ सती हो जाओ।" मीरा ने उत्तर दिया–

ऐसे पति को क्या बरूँ, जो जनमे मरि जाय।
मीरा अविनाशी बर्‌यो, सुहाग अमर होइ जाय॥

ऐसे पति का मैंने वरण ही कब किया जो जन्म ले और मर जाय! मीरा ने उस अविनाशी का वरण किया है जिससे सुहाग सदा के लिए अमर रहे।

औरों के पिया परदेस बसत हैं, लिख लिख भेजें पाती।
हमरे पिया हमरे हिय में बसत हैं, ना कहूँ जाती न आती॥

मीरा ने परमात्मा को पति सम्बोधित किया क्योंकि वही वास्तविक मर्यादा की रक्षा करते हैं। लोक-व्यवहार में किसी को दो खरी-खोटी सुना दें, उसकी इज्जत हल्की हो जाती है। आजकल देखा जाता है कि शादी-विवाह में लम्बा दहेज मिला तो इज्जत चौगुनी हो गयी। शरीर छूट गया तो इज्जत यहीं रह गयी। दूसरा शरीर मिला तो दूसरा ही संसार हो गया। यहाँ के सारे कीर्तिमान यहीं छूट गये। इसलिए यह संसार और इसकी मान्यताएँ सदैव असुरक्षित हैं– **'सोई पुर पाटन सो गली, बहुरि न देखा आइ।'**– फिर लौट के कोई नहीं देखता।

'ईश्वर अंश जीव अविनाशी'– आपके हृदय में जो आपका स्वरूप है, सहज सुख की राशि है, अविनाशी तत्व है। ऐसा विशुद्ध स्वरूप होने पर भी हम-आप बारम्बार गर्भवास की यातना झेल रहे हैं, मल-मूत्र और पीव से सनी हुई अनन्त योनियों का भ्रमण कर रहे हैं। इस दयनीय दशा से उबार कर हमें मर्यादित स्वरूप प्रदान करने में परमात्मा ही सक्षम है। इसलिए

परमात्मा को पत रखनेवाला होने से 'पति' कहकर सम्बोधित किया है। सन्त कबीर ने भी इस भजन में परमात्मा को पिया कहकर सम्बोधित किया कि **'पिया तोरी ऊँची रे अँटरिया, अब देखत चली।'**

इस भजन में ईश्वर-पथ के उस स्तर का चित्रण है जहाँ से ईश्वर का दरबार झलकने लगता है, ईश्वर की विभूति का आभास होने लगता है। कबीर कहते हैं– भगवन्! आपकी अट्टालिका तो बहुत ऊँचाई पर है– **'प्रकृति पार प्रभु सब उर वासी।'**– प्रकृति नीचे है, परमात्मा प्रकृति से परे है। आपका निवास आकाशवत् है, संकल्प-विकल्प से रहित शान्त और सम है। आप नहीं, अभी तो केवल आपके निवास-स्थल की झलक मिल रही है। इसी को '**अब देखत चली**'– अभी चलना शेष है।

यहाँ 'अब' शब्द साधक की आसन्न सफलता का द्योतक है, कार्य की पूर्ति का द्योतक है। उदाहरण के लिए किसी कन्या के विवाह का समय आया तो कहीं घर अनुकूल नहीं, कहीं वर अनुकूल नहीं। घर-वर मिला तो समधी रूठ गये 'हमें मोटरसायकल दो, मारुति दो।' किसी तरह से बीघा-बिस्वा बेंचकर कन्या का हाथ पीला करते बन गया तब भी समधी ऐंठ गये कि हमारे साथियों का स्वागत कम हुआ। किसी तरीके से दस कदम विदा करते बन गया तब बोले– अब जान में जान आई! जब कन्या का जन्म हुआ था तब नहीं; जब पढ़ाया-लिखाया, सर पर हाथ फेरा तब भी नहीं; जब शादी ढूँढ़ते थे तब भी नहीं; जब चार कदम विदा करते बन गया तब कहा कि 'अब' जान में जान आई! इस प्रकार तब और अब में पूरब और पश्चिम का अन्तर है। तब एक छोर है और अब दूसरा छोर!

जब कबीर लहरतारा तालाब पर मिले तब नहीं, जब दशाश्वमेध की सीढ़ियों पर लेटकर महापुरुष रामानन्द जी की शरण गये तब नहीं, जब माया से भयभीत थे कि '**माया महा ठगिनी हम जानी**' तब नहीं, अब एक ऐसा स्तर आया कि ईश्वर की आकाशवत् रहनी प्रकृति से पार अँटरिया झलकने लगी। अब वहाँ तक की दूरी कैसे तय हो? इस पर कहते हैं–

'जरद किनरिया'– जरद अर्थात् योग का अतिसूक्ष्म किनारा पकड़ कर **'लगल नाम की डोरिया'**– योग के अनेकों अंगों में सबसे प्रमुख नाम जप है। नाम में सुरत की डोरी लगाकर हम यहाँ तक की इस अटारी तक की दूरी तय करते हैं।

ज्योंही परमात्मा के निवास की झलक मिली, अटारी दिखाई देने लगी, विघ्न आने लगे। **'चाँद सुरुज सम दियना बहुत हैं, ता बिच भूली डगरिया'**– चाँद और सूर्य के समान बहुत-से दीपक दिखायी पड़े; उनकी चकाचौंध में रास्ता भटक गये। आप घोर अन्धकार में हो, यदि कहीं दीपक दिख जाय तो आप रास्ता पा जायेंगे। कबीर समीप पहुँचे तो चाँद और सूर्य के समान दीपक दिखायी पड़े। वह रास्ता भटक गये। यह कैसा विघ्न? गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं–

छोरत ग्रंथि जानि खगराया। बिघ्न अनेक करइ तब माया।।

(रामचरितमानस, 7/117/6)

विद्या की गाँठ छोड़ते समय माया अनेक विघ्न करती है।

रिद्धि सिद्धि प्रेरइ बहु भाई। बुद्धिहि लोभ दिखावहिं आई।।

(रामचरितमानस, 7/117/7)

माया ऋद्धियाँ प्रदान करती है, सिद्ध बना देती है। भगवान कभी सिद्ध नहीं बनाते। भगवान के दर्शन के साथ परमसिद्धि स्वतः है। उस महापुरुष की इच्छा भगवान ही पूरी करने लग जाते हैं। यह महापुरुष की स्वाभाविक रहनी है किन्तु आधे-अधूरे रास्ते में सिद्धि मिलती है तो यह छिटपुट चारा माया फेंकती है। उन ऋद्धियों-सिद्धियों के चकाचौंध में जहाँ साधक फँसा तहाँ–

ग्रंथि न छूटि मिटा सो प्रकासा। बुद्धि विकल भइ विषय बतासा।।

(रामचरितमानस, 7/117/14)

ये ऋद्धियाँ, सिद्धियाँ दीपक हैं। इसमें बहुत बड़े चतुर भी भूल जाते हैं। इन्हीं दीपकों की चकाचौंध में शृंगी ऋषि भूल गये, महर्षि पराशर भूल

कर बैठे। सिद्धियों के झाँसे ने दिन का रात बना दिया। गंगा-प्रवाह में नाव स्थिर हो गयी, जल में रेत हो गया किन्तु दुर्जय शत्रु को नहीं जीत पाये। रिद्धियाँ-सिद्धियाँ, मान-सम्मान चाँद और सूर्य के समान आकर्षित करनेवाले दीपक दिखाई पड़े। '**ता बिच भूली डगरिया**'- इन्हीं की चकाचौंध में साधक भटक जाता है। जहाँ साधक ने स्वीकार किया कि यह हमारे द्वारा हो रहा है तहाँ '**ग्रंथि न छूटि मिटा सो प्रकासा**'।

माया पतित करने भर के लिए सामने आती है। इसलिए जब ज्ञान है कि यह धोखा है, जो प्रकाश दिखाई दे रहा है क्षणिक है, माया का फेंका हुआ जाल है तो साधक सँभलेगा और पार हो जायेगा। ऊँची अटरिया दृष्टि से ओझल न हो जाय।

कबीर कहते हैं कि भगवन्! आपकी रहनी आकाशवत् है। आकाश कहते हैं पोल को, आकाश कहते हैं शून्य को। चित्त में जब भजन में रत संकल्पों की लहर पैदा हो जाय, विषय-वासना की लहर शान्त हो जाय, मन सम स्थिति में टिकने लगे तुरन्त प्रकृति से सम्बन्ध टूट जाता है; परमात्मा के धरातल पर पाँव पड़ जाता है, अटारी दिखाई देने लगती है। ऋद्धियों-सिद्धियों से बचनेवाला साधक परमात्मा के धाम पहुँच जाता है। अगली पंक्ति में सन्त कबीर कहते हैं- यह सौदा सबके लिए सुलभ है,

पाँच पचीस तीन घर बनिया, मनवा है चौधरिया।

पाँच तत्त्व '**क्षिति जल पावक गगन समीरा**'- जिनसे सबका स्थूल शरीर बना है और पचीस प्रकृति; जहाँ इनका समावेश हुआ जड़ तत्त्व गतिशील हो उठते हैं। इसके साथ ही त्रिगुणमयी प्रकृति- यही व्यापार स्थली है। इसलिए यह शरीर आपको मिला है। मन इसका नायक है। इसके माध्यम से आप उच्च अथवा निकृष्ट योनियों में जहाँ चाहें, जा सकते हैं क्योंकि मनुष्य कर्मों का निर्माता है, कर्मों के आश्रित कदापि नहीं।

इस व्यापार स्थली को अर्थात् पाँच तत्त्व, पचीस प्रकृति और इनके चौधरी मन को संयमित करने की क्षमता केवल ज्ञान में है इसलिए ज्ञान

कोतवाल है, ईश्वरीय अनुभूति के संचार का नाम है ज्ञान! यह हरिप्रेरित है, मन का नियामक है। सबके अन्दर इस ज्ञान का सूत्रपात है, ज्ञान के पात्र सभी हो सकते हैं– **'चहुँ दिसि लगल बजरिया'**। 'हम ही पाये हैं', ऐसी बात नहीं है। आप भी वह सौदा ईश्वर की अटारी का दर्शन और प्रवेश पा सकते हैं।

'आठ कोठरिया नव दरवाजा, दसवें में बन्द किवड़िया'– अष्टधा मूल प्रकृति अभी जिसका वर्णन कर आये हैं, पाँच तत्त्व और तीन गुण– यही आठ कोठरियाँ हैं– **'आठ कोठरिया बहत्तर ताला, ता बीच जीव घूमे निरधारा।'** अष्टधा मूल प्रकृति के शुभाशुभ भोगों को भोगने के दरवाजे शरीर में नौ हैं– **'नवद्वारे पुरे देही'** *(गीता)*– शरीर के नौ दरवाजे हैं। आँखें देखती हैं, कान सुनते हैं, रसना आस्वादन करती है इत्यादि नौ दरवाजों से ही मन विषयों का सेवन करता है। जहाँ अष्टधा मूल प्रकृति और इनके नौ दरवाजे इन्द्रियों को संयमित किया, नाम में सुरत की डोर लगी– यहाँ तक कि साधना साधक को करनी होती है किन्तु दसवाँ द्वार है ब्रह्मरन्ध्र। जिस दरवाजे से ब्रह्म में प्रवेश पाया जाता है वह द्वार बन्द है क्योंकि भगवान मन और बुद्धि से परे हैं। मनुष्य के पास मन, बुद्धि और इन्द्रियों के अतिरिक्त है भी क्या? इस दरवाजे पर साधक का पराक्रम काम नहीं आता। वह द्वार कैसे खुले? तो–

खिड़की बैठि गोरी चितवन लागी।

माया के दो भेद हैं– विद्या और अविद्या। विद्या शुक्ल वर्ण है, गोरी है। जब चित्तवृत्ति अविद्या और मल-आवरण, विक्षेपयुक्त है इसका स्वरूप काला है; यह अन्धकार की ओर बढ़ानेवाली है। शरीर भजन नहीं करता। यह तो **'साधन धाम'** भजन करने का घर मिला है। आप से या माताओं से जब भी भजन होगा, तुलसी या मीरा से, जब भी किसी से भजन पार लगा, इष्टोन्मुखी लगन जागृत हुई, उसने भजन कराया इसलिए लौ रूपी लड़की! यह इष्टोन्मुखी है तो निर्मल है, गोरी है, इसे नारी संज्ञा दी गयी है।

मनसहित इन्द्रियों का संयम करके इष्ट की आज्ञा का पालन करते साधक जब दसवें द्वार ब्रह्मरन्ध्र पर पहुँचा तो वहाँ टकटकी लगाकर लौ लगी ही रह गयी– भरत की तरह! जहाँ लौ लगी रह गयी, साधक हताश नहीं हुआ, श्रद्धा का तार नहीं टूटा तब भगवान इधर साधक में दृष्टि बनकर खड़े हो जाते हैं और सामने स्वयं प्रकट हो जाते हैं। आप नहीं भी समझेंगे तो समझा लेंगे, अपनी झाँप-झालर में ले लेते हैं, अपने में समाहित कर लेते हैं। ईश्वर-पथ में कुछ दूरी ऐसी भी है जिसमें भगवान स्वयं प्रवेश दे देते हैं, दसवें द्वार के अन्दर कर लेते हैं, ब्रह्म से संयुक्त कर लेते हैं, आत्म-स्वरूप की स्थिति प्रदान कर देते हैं जिसके पश्चात् कुछ भी पाना शेष नहीं रह जाता।

अन्त में सन्त कबीर एक रहस्य की बात उद्घाटित करते हैं कि यह सौदा मिलता कहाँ है? कैसे हम स्वाँस को पकड़ें? कैसे हम सम्पूर्ण योग-विधि सीखें? कैसे ज्ञान का संचार हो? कैसे नाम में सुरत की डोर लगे? इसकी जागृति का स्रोत क्या है? इन सबके लिए,

कहत कबीर सुनो भाई साधो, गुरु के वचन बलिहरिया।

आप सद्‌गुरु के वचन पर बलि चढ़ जायँ, अपना बल भूल जायँ। बल कई प्रकार के हैं–

अपबल तपबल और बाहुबल, चौथा बल है दाम।
सूर किसोर कृपा ते सब बल, हारे को हरि नाम।।

लोगों को अपना बल रहता है कि मैं ज्ञानी हूँ, ध्यानी हूँ, पढ़ा-लिखा हूँ। यह सब भूल जायँ और गुरु के वचनों पर डट जायँ।

गुरु की आज्ञा उल्लंघि के, जो नर कतहूँ जाय।
जहाँ जाय तहँ काल है, कह कबीर समझाय।।

कदाचित् कोई साधक गुरु के आदेश का उल्लंघन कर भटक गया, वह तीर की तरह सीधा काल के मुख में जा रहा है न कि कल्याण के लिए जा रहा है। प्रायः साधकों को भ्रम हो जाता है कि अब तो भजन कर लेंगे किन्तु

यह धोखा है इसलिए '**गुरु के वचन बलिहरिया**'– गुरु जो भी आदेश दें, उनकी वाणी पर अपनी बलि चढ़ा दें। उनका मस्तिष्क, उनके विचार ले लें और अपना मस्तिष्क, अपना पूर्वाग्रह समर्पित कर दें। किन्तु सन्त कबीर कहते हैं, बलि चढ़ानेवाला हजारों में एक होता है–

चतुर लोग मिलि सौदा करिहैं, झंकत मुरख अनरिया।
पिया तोरी ऊँची रे अटरिया, अब देखत चली॥

चतुर लोग ही सौदा कर पाते हैं। आजकल सब चतुर ही तो बने हैं। नेता कहते हैं– हमने तो पहले ही दस लाख रुपया अलग रख लिया था, मैं जानता था कि चुनाव की हवा क्या होगी? व्यापारी कहता है– हमने बाजार-भाव देखकर वस्तुओं का संग्रह कर लिया था कि आगे भाव बढ़ने वाला है। सब चतुर ही तो बने हैं। तुलसीदास कहते हैं–

चतुराई चूल्हे पड़ी, घूरे पड़ा अचार।
तुलसी राम भजन बिन, चारों वरन चमार॥

वह चतुराई चूल्हे में जाय, उसमें आग लगे, वह आचार-सदाचार घूर में फेंक दिया जाय। यदि एक राम का भजन नहीं है तो चारों वर्ण चमार हैं, चमड़ी के व्यापारी मात्र हैं। परिणाम में किसी न किसी योनि में जाना पड़ेगा। '**पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनम्**'– गर्भवास से छुटकारा नहीं मिलेगा।

अस्तु, चतुर लोग ही सौदा करते हैं। थोड़ा अनुरागी है, थोड़ा विवेकी, गुरु के प्रति समर्पित और एक परमात्मा की चाहवाला है, ऐसे चतुर लोग ही सौदा करेंगे और '**झंकत मूरख अनरिया**'– मूर्ख और अनाड़ी लोग तरसते रह जाते हैं।

इस सत्सङ्ग मण्डप में सब चतुर ही तो आये हैं। किसी की चतुराई में कोई कमी नहीं है। थोड़ी-सी कमी है तो साहस की! यह इन्द्रियाँ प्रमथन स्वभाववाली हैं। यह दुर्जय हैं। इन्हें संयमित करने के साहस की जरूरत है, तभी बेड़ा पार होगा।

कामनाओं की पूर्ति चाहना भगवत्पथ का बहुत बड़ा अवरोध है इसलिए भगवान से कभी कुछ माँगना नहीं चाहिए। भगवान जानते हैं कि आपकी परिस्थिति क्या है? जरूरतें क्या हैं? जितना वह आवश्यक समझते हैं, व्यवस्था भी देते हैं किन्तु नश्वर वस्तुओं के लिए दुराग्रह उचित नहीं है।

यूरोप में फ्रांस के राजा नेपोलियन बोनापार्ट की गणना विश्व के महानतम विजेताओं में होती है। उसने बहुत-सी लड़ाइयाँ लड़ीं, पूरे यूरोप को रौंद दिया। उसकी मान्यता थी कि 'असम्भव' शब्द को शब्दकोष से हटा देना चाहिए। जीवन में उतार-चढ़ाव आते ही हैं। एक बार वह शत्रुओं से घिर गया। रूसी सेना के तीन सिपाही उसका पीछा कर रहे थे। उसके अंगरक्षक पीछे छूट गये थे। अकेला नेपोलियन भाग रहा था। भागते हुए वह एक दर्जी की दुकान पर पहुँचा। एक बूढ़ा दर्जी कपड़े सिल रहा था।

नेपोलियन ने उससे कहा– भाई दर्जी! मैं तुम्हारा सम्राट नेपोलियन हूँ। रूस के सिपाही मुझे जान से मार डालने के लिए पीछा कर रहे हैं। तुम मेरे प्राण बचा लो, मुझे कहीं छुपा दो। तुम जो भी माँगोगे, मिलेगा। दर्जी ने निगाह उठाकर उसकी ओर देखा और अपने पीछे आने का संकेत किया। भीतर सीलन भी अँधेरी कोठरी में एक टूटी-सी चारपाई पड़ी थी जिस पर फटा-पुराना मैला-कुचैला एक बिस्तर पड़ा था। दर्जी ने बिस्तर उठाया, नेपोलियन को चारपाई पर लेटने का संकेत किया। उसने नेपोलियन के ऊपर वह बिस्तर डाल दिया, कोने में रखे कतरनों का सारा ढेर लाकर उसके ऊपर डाल दिया और आकर पुनः सिलाई करने लगा।

मकानों की तलाशी लेते रूसी सैनिक दर्जी की दुकान में आ गये और पूछा– क्या तुमने किसी योद्धा को भागते देखा है? क्या तुमने सम्राट नेपोलियन को देखा? दर्जी ने नकारात्मक भाव से सिर हिला दिया। उस सिपाही ने एक हाथ लम्बा छुरा निकाल धमकाते हुए कहा– सच बता नहीं तो छुरा इस पार से उस पार हो जायेगा। एक सिपाही दर्जी को धमका रहा था, दूसरा बाहर निगाह रखे था और तीसरे को कुछ सन्देह हुआ तो उसने

अपना छुरा निकालकर कतरन के ढेर में मारने लगा। उसका एक वार तो बिस्तर छेदकर नेपोलियन के सीने को भी छू गया। दबाव गहरा होता तो छुरा रक्त से लथपथ निकलता किन्तु ढेर में कोई हलचल न देख आश्वस्त हो अपने दोनों साथियों के साथ नेपोलियन को ढूँढ़ते आगे बढ़ गया।

कुछ देर पश्चात् नेपोलियन कतरनों के उस ढेर से बाहर निकला और दर्जी से पूछा– क्या वे लोग निकल गये? दर्जी ने बताया– अब तक वे काफी दूर निकल गये होंगे? इतने में नेपोलियन के अंगरक्षक भी दौड़ते हुए आ गये। कृतज्ञ नेपोलियन ने उनसे बताया कि कैसे वह मौत से बाल-बाल बचा है। उसने दर्जी से कहा– भाई दर्जी! तुमने अपने सम्राट के प्राण बचाये हैं। इसके बदले मुझसे जो चाहे माँग लो जिससे तुम्हें जीवन में फिर कमाना न पड़े, किसी से माँगना न पड़े।

दर्जी बोला– जिस कोठरी में आपके प्राणों की रक्षा हुई है, वर्षा में टपकती है। उसकी मरम्मत हो जाय। नेपोलियन ने कहा– तुमने तो कुछ भी नहीं माँगा। तुम एक सम्राट से माँग रहे हो। तुम्हें एक अवसर और देता हूँ। दर्जी ने कहा– आजकल मेरी पत्नी के बाल बहुत झड़ रहे हैं, उसे एक बालदार टोपी मिल जाती। नेपोलियन ने सोचा, किस पागल से भेंट हो गयी? वह बोला– भाई! तुमने दो अवसर खो दिया। तुम्हें एक अन्तिम अवसर और देता हूँ। अब जी भरकर माँगो, अपने राजा से माँगो।

दर्जी बहुत सन्तोषी था। वह मुस्कुराया और बोला– जिस समय छुरा आपकी छाती को छू गया था, आपको कैसा लगा था? बतायें। नेपोलियन अचानक क्रोध में आ गया, बोला– सम्राट के मन का हाल जानना चाहते हो? इतनी बड़ी गुस्ताखी? सिपाहियो! इसे पकड़ लो और कल सवेरे वृक्ष से बाँधकर इसके सीने में छुरा भोंक देना।

सिपाहियों ने दर्जी को लपककर पकड़ा, उसे खींचकर ले जाने लगे। दर्जी गिड़गिड़ाया– भाई! हमें कुछ मत दो। हमने कोई अपराध नहीं किया है। हमने प्राण बचाये हैं। हमारे प्राण छोड़ दो। किन्तु उसकी कौन सुनता?

उसे एक वृक्ष से बाँध दिया गया। रातभर वह दर्जी अपनी मृत्यु के एक-एक पल गिनता रहा। प्रातःकाल सिपाही छुरा लेकर आया। एक-दो-तीन कहकर दर्जी के सीने पर छुरा भोंकते वह अचानक रुक गया। सफेद ध्वज लेकर घुड़सवार आता दिखायी पड़ा। घुड़सवार ने नेपोलियन का एक पत्र सिपाही को दिया। उसमें लिखा था– भाई दर्जी! तुम्हारे घर की मरम्मत हो गयी। टोपी भी तुम्हारी पत्नी के पास पहुँच गयी और जब मौत का छुरा मेरी छाती से छू गया था, मुझे अपने मन में कैसा लगा था, अब तुम समझ गये होगे। एक मनुष्य जब राजा से माँग नहीं सकता तो परमात्मा से कैसी याचना करेगा?

जथा दरिद्र बिबुधतरु पाई। बहु सम्पत्ति माँगत सकुचाई।।

(रामचरितमानस, 1/148/5)

महादरिद्र को कल्पतरु ही मिल जाय, फिर भी बहुत सारी सम्पत्ति माँगने में उसे संकोच होता है। जीव में कहाँ क्षमता है कि सत्य को समझे और माँग ले। जीव के पास है क्या? '**गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई।।**' *(रामचरितमानस, 3/14/3)*– इन्द्रियों और इन्द्रियों के विषयों में जहाँ तक मन कल्पना करता है, बुद्धि निश्चय करती है '**सो सब माया जानेहु भाई**'। मन, बुद्धि और इन्द्रियों को छोड़कर और है ही क्या आपके पास? बुद्धि से आप किसी को अतीन्द्रिय ज्ञान की संज्ञा दें भी किन्तु वह है तो मन-बुद्धि का सोचा-विचारा। इसलिए भगवान से कुछ भी न माँगें। जो भी आप माँगोगे, सब मिलकर भी भगवान की विभूति का कण मात्र भी नहीं है। यदि माँगना ही है तो भगवान को ही माँग लें। प्रभु आयेंगे तो उनकी प्रभुता भी आपके चतुर्दिक छा जायेगी। '**इच्छा राखे मोक्ष की, ताहि शिष्य पहचान**' *(परमहंसजी की बारहमासी)*– शिष्य की यही पहचान है कि उसे मोक्ष अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति की ही इच्छा हो–

उर अभिलाष निरन्तर होई। देखिअ नयन परम प्रभु सोई।।

(रामचरितमानस, 1/143/5)

!! ॐ श्री गुरुदेव भगवान की जय !!

अमृतवाणी

(कैसेट संख्या– 11:2)

गयी झुलनी टूट

गयी झुलनी टूट।
दगा होइगा बालम, गयी झुलनी टूट।

पाँच रतन की मेरी झुलनिया,
बिचवा में ठगवे ले गइले लूट। दगा होइगा......।

ऐसी झुलनियाँ बहुरि न बनिहैं,
बाँके सोनरवा से गई यारी छूट। दगा होइगा......।

कहत कबीर सुनो भाई साधो!
अबकी झुलनियाँ पकड़ मजबूत। दगा होइगा......।

सन्त कबीर का यह एक साधनापरक भजन है। साधक के जीवन में परीक्षा के क्षण आते ही हैं। यदि परीक्षा नहीं तो सफलता कैसी? उपाधि कैसी?

माता सीता पिछले जन्म में वेदवती नाम की कन्या थीं। उनके पिता तपस्वी थे। एक बार निशाचरराज की दृष्टि पड़ गयी। उसने कहा– ''यह कन्या मुझे दे दो। मैं इसे महारानी बनाऊँगा।'' तपस्वी ने कहा– ''नहीं, वत्स! मैंने प्रतिज्ञा कर रखी है। मैं यह कन्या भगवान को अर्पित करूँगा।'' राक्षस ने निकाली तलवार, उनकी गर्दन काट दी। वेदवती पिता की हत्या होते देख जंगल में ओझल हो गयी। उसने विचार किया कि पिता ने प्राण त्याग दिया। उनका संकल्प था, कन्या भगवान को अर्पित करेंगे। अस्तु, मैं पिता के संकल्प को पूर्ण करूँगी। वह भजन में लग गयी।

जब परीक्षा की घड़ी आयी, रावण की निगाह वेदवती पर पड़ गयी। उसने अपना पुष्पक विमान उसके समीप उतारा और लपककर उसके केश पकड़ लिये। वह बोला– "तपस्या तो लूली, लँगड़ी, बुढ़िया, अपाहिजों ऐसी स्त्रियों के लिए होती है। तुम जैसी सर्वाङ्ग सुन्दरी के लिये तपस्या का विधान कहाँ है? चलो, मैं तुम्हें लंका की पटरानी बनाता हूँ।"

वेदवती ने हाथों से झटककर बालों को काटकर फेंक दिया और बोली, "तुम्हारे जैसे दुष्ट यहाँ आने-जाने लगे हैं। अब मेरा संयम सुरक्षित नहीं रह पायेगा, तपस्या सुरक्षित नहीं है। अतएव मैं इस देह का त्याग करती हूँ। इसका बदला मैं तुमसे लेकर रहूँगी और भगवान को भी प्राप्त करूँगी।" वेदवती ने कुटिया में संचित लकड़ियों में अग्नि प्रज्ज्वलित किया और रावण के समक्ष ही आत्मदाह कर लिया।

आधुनिक विचारकों की दृष्टि में यह आत्महत्या थी जिसका परिणाम नरक है किन्तु वेदवती नरक नहीं गयी। अगले जन्म में उसने राम को प्राप्त किया, रावण से बदला भी लिया। यदि हमें किसी जीव से बदला लेना है तो जन्म लेना पड़ेगा। इसीलिए सन्त कबीर सावधान करते हैं–

राम नाम दुर्लभ अति, औरन ते नहिं काम।
आदि अन्त अरु जुग जुग, रामहिं ते संग्राम॥

राम नाम अत्यन्त दुर्लभ है। इतना कठिन है तो छोड़ो, क्यों झंझट मोल लें? कबीर कहते हैं– '**औरन ते नहिं काम**'– अन्य किसी भी विधि से कल्याण संभव नहीं है। इसलिए आदि अर्थात् भजन की शुरुआत और अन्त अर्थात् प्राप्तिकालपर्यन्त राम से ही संग्राम है। यदि आप केवल राम से लड़ेंगे, '**भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ**' *(रामचरितमानस, 1/27/1)*– किसी भी भाव से परमात्मा राम का चिन्तन करेंगे तो राम का रामत्व प्राप्त कर लेंगे, स्थितप्रज्ञता प्राप्त कर लेंगे और जीवों से लड़ते रहने पर उनसे बदला लेने के लिए पुनः शरीर धारण करते रहना पड़ेगा,

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनम्।

(आदि शंकराचार्य)

राम से लड़नेवालों के लक्षण क्या हैं? सन्त कबीर के ही शब्दों में-

जे जन भीजे राम रस, विकसित कबहुँ न रूख।
अनभव भान न दरसिये, तेहिं नर सुख न दुख।।

जो जन, जो भक्त राम के रस में सराबोर हो गये वे सदैव विकसित रहते हैं, कभी उदास नहीं होते। सृष्टि में कोई जन्मा ही नहीं जो उन्हें खिन्नता दे दे। किन्तु रामरस में भींगे जन की पहचान क्या है? अनुभव अर्थात् भव से अतीत करनेवाली जागृति उसमें होती है। उसके प्रत्येक भाव और संकल्प के साथ-साथ इष्ट का निर्देश चलता रहता है। यदि ऐसा अनुभव न दिखायी पड़े, भगवान रोकथाम न करें, मार्गदर्शन न करें उसके लिए न सुख है, न दुख है। उसका राम नाम तोता-रटन्त मात्र है।

लोक-व्यवहार में अपने अथवा दूसरे द्वारा किये गये कार्यों और उनसे मिलनेवाली शिक्षा को अनुभव कहा जाता है किन्तु अध्यात्म में अनभव का आशय कुछ दूसरा ही है। भव कहते हैं संसार को और 'अन' उपसर्ग अतीत का द्योतक है। इस प्रकार अनभव संसार से अतीत कर देनेवाली जागृति विशेष का नाम है। उस जागृति में ऐसा होता है कि जिस परमात्मा की हमें चाह है हमारी प्रार्थना, हमारी पुकार ऐसी हो कि वह प्रभु उस सतह पर उतर आयें जिस पर हम खड़े हैं। हमारी आत्मा से अभिन्न होकर वह खड़े हो जायँ, हमारे संकल्प के साथ-साथ रहें और हमारा मार्गदर्शन करते रहें कि यहाँ तुम गलत सोच रहे हो, अब चिन्तन ठीक है, अब सावधान हो जाओ, यहाँ खतरा है। इस प्रकार हमारे भाव के साथ-साथ भगवान रोकथाम न करें, अनुभव प्रदान न करें, भव से अतीत करनेवाली सूझबूझ न प्रदान करें तो न सुख है न दुख; अर्थात् पूर्ण निवृत्ति दिला देनेवाला भजन अभी जागृत ही नहीं हुआ।

वेदवती की ही तरह जड़भरत का भजन पूर्णता की ओर अग्रसर हुआ, परीक्षा का एक सूत्र दिखाई पड़ा। एक मृगशावक में किञ्चित् आसक्ति हो गयी। उन्हें अगला जन्म मृगयोनि में मिला। निवृत्ति के कगार पर पहुँचे महापुरुषों को भी आसक्ति और स्मृति के आधार पर जन्म लेना पड़ता है तो जनसाधारण की दुर्गति पर क्या आश्चर्य? इसी से सचेत करते हुए सन्त कबीर कहते हैं **'दगा होइगा बालम! गयी झुलनी टूट।'**– भगवन्! धोखा हो गया। परीक्षा की घड़ी आयी तो सँभलते नहीं बना, झुलनी टूट गयी।

संसार में झुलनी स्त्रियों का एक आभूषण है, सौभाग्य का प्रतीक है; किन्तु आध्यात्मिक रूपकों में झुलनी साधना के झूले पर बैठे हुए साधक की सहजावस्था या सुखमना स्थिति का परिचायक है। इसी झूले में,

ब्रह्मा झूले विष्णू झूले, सिव सनकादिक भाई।
सिद्ध अनन्त वहि झूला में झूले, विरले परमगति पाई।।

झूला रस्सी और लकड़ी से बँधा हुआ शून्य में लटकता उपकरण है जिस पर झूलनेवाले का पृथ्वी से सम्बन्ध नहीं रहता। इसी प्रकार जब ईश्वर से सुरत की डोर लग जाती है, सांसारिक संकल्प-विकल्प से चित्त ऊपर उठकर एक परमात्मा में लौ लगाकर अधर में झूलने और चलने की क्षमता पा जाता है, इस आकाशवत् अवस्था को सन्त कबीर ने झुलनी की संज्ञा दी। यह झुलनी है कैसी? इस पर वह कहते हैं–

पंच रतन की मेरी झुलनिया, बिचवा में ठगवे ले गइले लूट।

संसार में तरह-तरह के रत्न बिकते हैं किन्तु योग-पथ में पाँच रत्न हैं। कुछ लोग शरीर-निर्माण के उपादान **'छिति जल पावक गगन समीरा'**– इन पंच तत्त्वों को पाँच रतन कहते हैं क्योंकि साधन-धाम नर-शरीर इन्हीं की देन है; किन्तु ये योग-पथ के रतन नहीं हैं। इस शरीर से भले-बुरे, दोनों प्रकार के कर्म होते हैं, अतः ये रतन नहीं हैं। कुछ लोग पंच ज्ञानेन्द्रियों और पंच कर्मेन्द्रियों को रतन कहते हैं; किन्तु इनके साथ भी वही कठिनाई है कि ये भगवान की ओर भी जाती हैं और विपरीत दिशा में भी भागती हैं।

वस्तुतः भजन चिन्तन करते-करते अन्तःकरण में पंचकोशों का संचार ही पाँच रतन है– अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश और आनन्दमय कोश। प्रथम कोश अन्नमय है। इस आत्मा के लिये ब्रह्म-पीयूष ही एकमात्र अन्न है। उपनिषदों में है– **'अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्'**। भजन-चिन्तन करते-करते जब ब्रह्म-पीयूष हृदय में प्रकट होने लगे, प्रभु पास बुलाने लगें, यह अन्नमय कोश एक उपलब्धि है, रतन है।

प्राणमय कोश के अन्तर्गत लोग पंच प्राण– प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान की गणना करने लगते हैं। ये कोई रतन नहीं हैं, जीवमात्र में पाये जाते हैं। गीता में भगवान श्रीकृष्ण प्राणों के व्यापार को अन्तःकरण का व्यापार कहते हैं। यह मन अन्तःकरण में ही सिमटकर निरुद्ध हो जाय, बाहर सुख की तलाश शान्त हो जाय, प्राणमय कोश है। पहले मन सुख की अनन्त योजनाएँ बनाता ही रहता था, अब वह अपने अन्तराल में ही सुख का स्रोत पा जाता है। यह उपलब्धि भी एक रतन है।

भजन के द्वारा मन के अन्तराल में ही प्रभु का स्वरूप झलकने लगा, यह मनोमय कोश है। विज्ञान कहते हैं अनुभव को। **'तुलसी मन बस होहि तबहिं, जब प्रेरक प्रभु बरजे।'**– यह बेज्ञान का ज्ञान, बेतार का तार है, प्रभु की आवाज है। प्रभु हमारी उँगली पकड़कर रोकथाम करने लगें, वह विज्ञानमय कोश है। विज्ञानमय कोश प्रभु प्रदत्त निर्णय है। पहले हम बुद्धि से निर्णय लेते थे जो कभी सफल तो कभी विफल हो जाते थे; किन्तु किसी विषय में यदि भगवान कुछ कह देंगे तो वह शत प्रतिशत ही नहीं, अनन्त प्रतिशत सत्य होगा। सृष्टि में ऐसा कोई नहीं जो उसकी सीमा को लाँघ जाय। अन्त में आनन्दमय कोश–

जो आनन्द सिन्धु सुखरासी। सीकर तें त्रैलोक सुपासी॥

(रामचरितमानस, 1/196/5)

सम्पूर्ण आनन्द की राशि तो केवल परमात्मा हैं। इस आनन्द-सागर से भगवान एक बूँद प्रदान कर दें तो तीनों लोक सुपास पा जाता है। उनके जीवन में पुनः कोई खतरा नहीं रहता। लोग संसार में सुख ढूँढ़ने का प्रयास

करते हैं; जैसे मकान में सुख के लिए खिड़की खोल देते हैं, फिर सुख के लिए झाड़-फानूस लगाते हैं। पुनः मान-प्रतिष्ठा आई तो सुख मानते हैं; किन्तु **'राम विमुख सपनेहुँ सुख नाहीं'**– राम से विमुख सपने में भी सुख नहीं है तो कोई पायेगा कहाँ से?

हिम ते अनल प्रगट बरू होई। विमुख राम सुख पाव न कोई।।

(रामचरितमानस, 7/121/19)

सांसारिक व्यवस्था तो जीव के पड़ाव मात्र हैं। इस पड़ाव का रहन-सहन छोड़ जीव अचानक दूसरे पड़ाव पर अपने को पाता है। यहाँ की व्यवस्था यहीं रह जाती है। सुख-दुःख से परे आनन्द परमात्मा की उपलब्धि है। जहाँ इन पंचकोशों का संचार साधक, भक्त के हृदय-देश में मिला तब सृष्टि में ऐसा कुछ भी नहीं है जो साधक को भुलावा दे दे। महाराजा मनु के पास–

बिधि हरि हर तप देखि अपारा। मनु समीप आए बहु बारा।।
मागहु बर बहु भाँति लोभाये। परम धीर नहिं चलहिं चलाये।।

(रामचरितमानस, 1/144/3)

मनु के पास विधाता पहुँचे कि ब्रह्मलोक ले लो; विष्णु ने कहा– विष्णुधाम ले लो; शिव ने अपने धाम का प्रस्ताव रखा; **'बहु भाँति लोभाये'**– वे कुछ दे नहीं रहे थे, केवल लोभ को बढ़ावा दे रहे थे। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर– ये षड्विकार हैं। इन्हीं में से एक विकार लोभ को आगे कर रहे थे। विश्वामित्र काम से गये, नारद अभिमान से गये; किन्तु परम धैर्यशाली महाराजा मनु विचलित नहीं हुए। भगवान ने देखा कि मन-क्रम-वचन से यह मेरा भक्त है तो मनु को आकाशवाणी दी। भगवान ने कहा– वर माँगो। मनु बोले– भगवन्! केवल आप जैसा चाहिए। भगवान ने कहा– मेरे जैसा कोई है ही नहीं, मैं दूँ कहाँ से! मनु, मैं तुम्हारे साथ हूँ। मनु को प्राप्ति हुई। कोई साधक भगवान के लिए निकला हो और कुछ भी पाकर संतुष्ट हो गया तो माया कामयाब हो गयी। **'व्युत्थाने सिद्धयः'** *(पातञ्जल*

योगदर्शन, विभूतिपाद, 37)– योग से मन विचलित करने के लिए सिद्धियाँ प्रकट होती हैं। वे वास्तव में सिद्धियाँ हैं किन्तु कैवल्य की प्राप्ति के लिए उतना ही बड़ी विघ्न हैं जितने काम, क्रोध, लोभ इत्यादि।

'पंच रतन की मेरी झुलनियाँ'– जहाँ इन पंचकोशों से संयुक्त अवस्था आई, मन संकल्प-विकल्प से रहित होकर देहाध्यास को भी छोड़कर अधर में टिकने की क्षमता पा जाता है, अब साधक और परमात्मा के बीच केवल मिलन भर शेष है। ऐसी अवस्था में भगवत्प्रेरणा से कुछ परीक्षायें प्रकट हो जाती हैं,

छोरत ग्रंथि जानि खगराया। विघ्न अनेक करइ तब माया॥

(रामचरितमानस, 7/117/6)

माया देखती है कि जीव अब हमारे चंगुल से निकल जाना चाहता है, माया का बन्धन छूट जाना चाहता है, यह मुक्त होना चाहता है तो वह अनेक विघ्न उपस्थित कर देती है। यही नहीं,

रिद्धि सिद्धि प्रेरइ बहु भाई। बुद्धिहि लोभ दिखावहिं आई॥

(रामचरितमानस, 7/117/7)

वह रिद्धियाँ प्रदान कर देती है, सिद्ध बना देती है। ऐसी अवस्था का साधक समीप से निकल भर जाय तो मरणासन्न व्यक्ति की स्वाँस भी एक बार लौट आयेगी। उसका स्वरूप ही ऐसा है। स्वाँस भले ही लौट आये, कैसी भी अनहोनी घटना भले घट जाय किन्तु साधक उनकी ओर घूमा कि यह मेरे द्वारा हो रहा है तो माया कामयाब हो गयी।

सिद्धियाँ वास्तव में होती हैं। यदि हम उस रास्ते से चल रहे हैं जिसमें किसी नदी को पड़ना है तो पड़ेगी। इसी प्रकार भगवत्पथ में सिद्धियों को पड़ना है, वह हर हालत में पड़ेंगी; किन्तु साधक सँभल जाता है कि हमारा मार्ग संयम का है। सिद्धियाँ कैवल्य-प्राप्ति में विघ्न हैं। सिद्ध भगवान नहीं बनाते। जब बन्धन छूटने की घड़ी आती है, माया ही चारा फेंकती है। जहाँ साधक उनके झाँसे में आया, **'ग्रंथि न छूटि मिटा सो प्रकासा।'** *(रामचरितमानस,*

7/117/14)। इसी आशय को प्रकट करते हुए कबीर कहते हैं कि पंचकोशों से संयुक्त मन की शून्य में टिकने की क्षमता हो गयी, भगवान में डोरी लग गयी, सिद्ध है कि बन्धन छूटने की घड़ी आ गयी; किन्तु बीच में **'ठगवे ले गइले लूट'**– ऋद्धि-सिद्धियों जैसे परीक्षा-सूत्र सामने से गुजरने लगे। हम उनकी चकाचौंध में आ गये, अधर में टिकने और विचरने की हमारी अवस्था टूट गयी। भगवन्! धोखा हो गया। हमने जानबूझकर कोई भूल नहीं की। हम बुद्धि से निर्णय ले ही रहे थे कि धोखा हो गया।

ऐसी झुलनियाँ बहुरि नहिं बनिहैं, बाँके सोनरवा से गई यारी छूट॥

जेवर कैसा भी टूटा हो, स्वर्णकार उसे पुनः वही रूप देने में सक्षम है किन्तु ईश्वर-पथ में च्युत होने पर साधक हताश हो जाता है। **'तेहिं विधि दीप को बार बहोरी'**– उसकी क्षमता क्षीण हो जाती है। सुरतरूपी सुनार! वह भी बाँका अर्थात् विलक्षण! ऐसे सुरत के अन्तराल में अनुरागरूपी यारी छूट गयी, वह क्षमता समाप्त हो गयी। भगवन्! धोखा हो गया।

कबीर कहते हैं, धोखा तो हुआ किन्तु ईश्वर-पथ में निराशा का कोई स्थान नहीं है–

कहत कबीर सुनो भाई साधो, अबकी झुलनियाँ पकड़ मजबूत॥

सन्त कबीर प्रोत्साहन देते हैं कि जो बीती बीत गई। सन्तो! सुनो, **'अबकी झुलनियाँ पकड़ मजबूत'**– अब से सचेत रहो। मान लें दरवाजे पर पाँव में ठोकर लगी, दूसरी बार द्वार आने पर पाँव अपने आप अँधेरे में भी ऊपर उठकर पड़ेंगे। दुबारा ठोकर लगने या गिरने की संभावना समाप्त! यही सन्त कबीर कहते हैं कि जब जान लिया कि भगवत्पथ में यहाँ आते-आते माया के विक्षेप आते हैं, यह समझ में आ गया तो इस बार धैर्य के साथ मजबूती से झुलनी को पकड़ो और लगो– **'कहै कबीर जनम की उढ़री। जबै से चेते तबै से सुधरी।'**

इस सम्बन्ध में महर्षि विश्वामित्र का आख्यान लिया जा सकता है। एक बार उनके मन में विचार आया कि क्षात्र-बल को धिक्कार है। मैं ब्रह्मर्षि बन

कर रहूँगा। वह भजन में लग गये। इन्द्र देवता ने उनके समीप एक अप्सरा मेनका को भेज दिया। मेनका कुछ दिनों तक महर्षि के साहचर्य में रही। उससे एक कन्या पैदा हुई और मेनका जंगल में तिरोहित हो गयी। विश्वामित्र उसे जंगल में ढूँढ़ने लगे, ''मेनके! तुम कहाँ चली गई? तुम्हारे न रहने से इस अबोध बालिका को कोई वन्यजीव उठा ले जायेगा।'' इतने में आकाशवाणी हुई– मेनका महाराज! वह तो माया थी, तुम्हें ठगने आयी थी, गयी। तुम नष्ट हो गये! इसी तपस्या से ब्रह्मर्षि बनोगे?

विश्वामित्र का कलेजा काँप उठा। बालिका शिशु को वहीं छोड़कर सुदूर पुष्कर क्षेत्र में तपस्या करने लगे। भजन उन्नत होने पर उनके समक्ष परीक्षा का सूत्र आया। उनके भाँजे शुनःशेप को राजकर्मचारी बलि चढ़ाने ले जा रहे थे। मार्ग में विश्वामित्र को देख उसने उनसे अपने प्राणों की रक्षा की प्रार्थना की। विश्वामित्र द्रवित हो गये। उस समय उनके एक सौ पुत्र उनका दर्शन करने आये थे।

विश्वामित्र ने पुत्रों से कहा, ''यह शुनःशेप यज्ञ में बलि चढ़ने जा रहा है। हमने इसे अभयदान दिया है। तुम सौ भाइयों में से कोई एक इसके स्थान पर बलि चढ़ने चला जाय।'' पुत्रों ने कहा, ''आप कैसे पिता हैं! संसार में पिता झूठ-सच बोलकर पुत्रों के लिए सुख-सुविधा का प्रबन्ध करते हैं, और आप कहते हैं कि बलि चढ़ जाओ। हम अपनी जान नहीं दे सकते।''

विद्रूप हँसी हँसते हुए विश्वामित्र ने कहा, ''बचोगे तो तुम तब भी नहीं! जाओ, सबके सब जल जाओ, नष्ट हो जाओ।'' सब मर गये। आकाशवाणी हुई कि तुम नष्ट हो गये। विश्वामित्र इस बार क्रोध से नष्ट हो गये। उन्होंने शुनःशेप से कहा, ''यह हमारी परीक्षा का षड्यन्त्र था अतः तुम बच जाओगे। वरुण की स्तुति करना, वह तुम्हें मुक्त कर देगा।''

एक बार परीक्षा हुई तो लगे स्वर्ग रचने; ये रिद्धि-सिद्धि का प्रकोप था। तब उन्होंने विचार किया कि बहुत फूँक-फूँककर पाँव रखता हूँ फिर भी माया इतनी सूक्ष्म! न जाने किस रास्ते से घुस जाती है। इस बार उन्होंने समर्पण किया उन परमात्मा के प्रति जो उस युग-जमाने की भाषा में इस प्रकार था–

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं
भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।

अर्थात् 'ॐ' शब्द से उच्चरित 'भू भुवः स्वः' तीनों लोकों में तत्त्वरूप से व्याप्त ज्योतिस्वरूप हे परमप्रभु! आप मेरी बुद्धि में निवास करें जिससे मैं आपको तत्त्व से जान सकूँ। इस बार उन्होंने हनुमानजी की शरण, गंगाजी की शरण या देवताओं की शरण न ली, न अपनी बुद्धि का भरोसा किया; उस प्रभु की शरण गये जो तीनों लोकों में तत्त्वरूप से व्याप्त, सहज प्रकाशस्वरूप है। समर्पित होकर जब विश्वामित्र लगे, माया आयी तो लेकिन कवच के रूप में स्वयं भगवान थे इसलिए आयी और ठोकर खाकर चली गयी।

'करहुँ सदा तिन्हकी रखवारी।'– इस बार रखवाली हो रही थी क्योंकि उन्होंने अपनी बुद्धि से सोचना ही बन्द कर दिया था। तपस्या उन्नत होने पर ब्रह्मा आये, बोले– आज से आप महर्षि हुए। विश्वामित्र बोले ही नहीं। तीसरी बार ब्रह्मा आये तो विश्वामित्र ने कहा– हमें जितेन्द्रिय ब्रह्मर्षि कहें। ब्रह्मा ने कहा– अभी तुम जितेन्द्रिय नहीं हो। विश्वामित्र भजन में लगे ही रह गये।

अन्ततः ब्रह्मा सम्पूर्ण देवताओं के साथ पधारे और बताया, "आज से तुम ब्रह्मर्षि हुए।" विश्वामित्र ने कहा, "यदि मैं ब्रह्मर्षि हुआ तो वेद हमारा वरण करे।" तत्काल वेद उनके हृदय में उतर आया अर्थात् जो परमात्मा अविदित था, विदित हो गया। इसीलिए वेद अपौरुषेय है। यह भजन की पूर्तिकाल में प्रकट होने वाली एक निधि है, एक अवस्था है, उपलब्धि है। केवल किताब पढ़कर वेदज्ञ बनना एक भ्रान्ति है। विश्वामित्र ने कहा, "यदि मैं ब्रह्मर्षि हुआ तो वशिष्ठ इसका समर्थन करें। वशिष्ठ भी आये, गले मिलें।

अस्तु, समर्पण के साथ जो लगता है, उसके सामने माया के खतरे प्रभावी नहीं होते। उनकी झुलनी नहीं टूटती। जो साधक अपने भरोसे चलते हैं, अपनी बुद्धि से निर्णय लेते रहते हैं, परीक्षा-सूत्र आने पर उन्हें धक्का लग ही जाता है।

!! बोलिये गुरुदेव भगवान की जय !!

अमृतवाणी

(कैसेट संख्या– 12:1)

चुनर में दाग कहाँ से लागल

चुनर में दाग कहाँ से लागल।
यह चुनरी मोरी रंग महल की, बड़े जतन से राखल।
दुइ दुइ सिपहिया द्वारे पै ठाढ़े, सास ननदिया जागल॥
चुनर में......॥

आठ कोठरिया दस दरवाजे, दसहों में ताला लागल।
कौन अरूप से चोरवा आइल, दाग लगा के भागल॥
चुनर में......॥

ना मैं मोही सास ननदिया, ना कोइ देवर लागल।
ना मैं मोही गोदी के बलकवा, चुनर भई कस काजल॥
चुनर में......॥

यह चुनरी मैं मलि-मलि धोई, धोवत धोवत भइ पागल।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, हरि जी से नेहिया लागल॥
चुनर में......॥

भजन करनेवालों और भगवान के बीच यदि कोई रुकावट है तो उनकी चित्तवृत्ति है, अन्य कुछ भी नहीं। ये वृत्तियाँ अनन्त हैं। महापुरुष पतञ्जलि ने उन्हें पाँच भागों में बाँटा है। इसी वृत्ति को सन्त कबीर चुनर की संज्ञा देते हैं। गोस्वामी तुलसीदास का भी यही निर्णय है। दाग चित्त में ही लगता है–

जो निज मन परिहरै विकारा।

तौ कत द्वैत-जनित संसृति-दुख, संसय, सोक अपारा।।

(विनयपत्रिका, पद 124)

यदि मन विकारों का त्याग कर दे तो संसार का अपार शोक, दुःख और सन्ताप क्यों रहे?

असन बसन पसु बस्तु बिबिध बिधि, सब मनि महँ रह जैसे।

सरग नरक चर-अचर लोक बहु, बसत मध्य मन तैसे।।

एक बहुमूल्य मणि में असन माने भोजन, बसन माने वस्त्र, इज्जत-प्रतिष्ठा, धन-धान्य, सवारी-साधन सब विद्यमान हैं क्योंकि उससे यह सब कुछ खरीदा जा सकता है। ठीक इसी प्रकार मन में स्वर्ग और नरक, चर और अचर सारे लोक विद्यमान हैं।

बिटप-मध्य पुतरिका, सूत महँ कंचुकि बिनहिं बनाये।

मन महँ तथा लीन नाना तनु, प्रगटत अवसर पाये।।

जिस प्रकार एक वृक्ष में नाना प्रकार के फर्नीचर अन्तर्निहित हैं, चाहे पलंग बना लें चाहे तख्त; जिस प्रकार सूत के अन्तराल में नाना प्रकार के वस्त्र हैं, चाहे धोती बना लें चाहे कुर्ता, पैण्ट, शर्ट या पैराशूट, सब उस तन्तु में विद्यमान हैं। ठीक इसी प्रकार मन में विधाता की सृष्टि के अनन्त शरीरों के धब्बे विद्यमान हैं। जब जिस संस्कार का समय आता है, मन पिण्डरूप में उसे फेंकता रहता है। मन और चित्त पर्यायवाची शब्द हैं। इन्हीं धब्बों को कबीर ने दाग की संज्ञा दी है कि **'चुनर में दाग कहाँ से लागल!'**

यह उस स्तर का भजन है जब साधक सारा संयम साध चुका होता है। अब दाग की कोई संभावना नहीं रह गयी। फिर यह दाग कहाँ से लग गया? आपकी चुनरी कैसी है? इस पर कहते है–

यह चुनरी मोरे रंगमहल की, बड़े जतन से राखल।

संसार का रंगमहल सुसज्जित अभिसार कक्ष है जहाँ नववधू का पति से प्रथम मिलन होता है किन्तु अध्यात्म में '**सब रंग कच्चा, सँवरिया रंग पक्का।**' सभी रंग परिवर्तनशील; केवल एक रंग, एक स्वरूप ही अपरिवर्तनशील है– परमात्मा, जिससे संसार के समस्त जीवों ने थोड़ा-थोड़ा रंग और आभा प्राप्त किया है–

लाली मेरे लाल की, जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं चली, मैं भी हो गइ लाल।।

सन्त कबीर ने परमात्मा को एक रंग की संज्ञा दी कि उस प्रभु की आभा '**जित देखूँ तित लाल**' और जहाँ उन प्रभु का स्पर्श किया तो '**मैं भी हो गयी लाल**'। मीरा कहती हैं, '**मैं तो गिरधर के रँग राती।**'

इसी सन्दर्भ में सन्त कबीर कहते हैं– '**यह चुनरी मेरे रंग महल की**' अर्थात् चित्तरूपी चुनरी परमात्मा के रंग से ओतप्रोत है। '**बड़े जतन से राखल**'– बड़े श्रम के साथ, यत्न के साथ इस चुनर को सँभालकर रखना पड़ता है; परमात्मा के रंग में रँगे हुए चित्त को कठोर संयम के साथ यत्न करके रखना पड़ता है। कौन सा यत्न किया आपने? इस पर कहते हैं–

आठ कोठरिया दस दरवाजे दसहूँ में ताला लागल।

'**आठ कोठरिया**' अर्थात् अष्टधा मूल प्रकृति जिसमें पंच महाभूत छिति, जल, पावक, गगन, समीर, मन, बुद्धि, अहंकार आते हैं। '**दस दरवाजे**'– इस प्रकृति के भोगने के रास्ते दस हैं, दस इन्द्रियों द्वारा की प्रकृति का आदान-प्रदान होता है। इन '**दसहूँ में ताला लागल**'– दस इन्द्रियों को हमने संयमित कर लिया। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं– '**सर्वद्वाराणि संयम्य**' *(गीता, 8/12)*– इन्द्रियों के सारे दरवाजों को संयमित कर, मन को हृदय-देश में निरुद्ध कर, ॐ का जप करते हुए जो देह का अध्यास छोड़ देता है, वह परमपद को प्राप्त होता है। ठीक इसी का अनुवाद जैसा संत कबीर की वाणी में भी है कि '**आठ कोठरिया**' (अष्टधा मूल प्रकृति), '**दस दरवाजे**'

(प्रकृति को भोगने के रास्ते), इन दसों में संयम का ताला लग गया; फिर चुनर में दाग कहाँ से लग गया? इतना ही नहीं, कुछ यत्न और भी किया गया–

दुइ दुइ सिपहिया द्वारे पे ठाढ़े, सासु ननदिया जागल।

दरवाजे पर दो-दो प्रहरी सुरक्षा के लिए नियुक्त हैं। अभ्यास और वैराग्य योगपथ के भरोसेमन्द प्रहरी हैं। भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं– अर्जुन! यह मन निःसन्देह वायु से भी तेज चलनेवाला है किन्तु '**अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।**' *(गीता, 6/35)*– सतत् अभ्यास और वैराग्य के द्वारा इस चित्त का निरोध हो जाता है। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं– '**अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः।**' *(योगदर्शन, समाधिपाद, सूत्र 12)*– अभ्यास और वैराग्य के द्वारा इन चित्तवृत्तियों का भली प्रकार निरोध हो जाता है। इष्टप्राप्ति के लिये साधन समझकर सतत् प्रयत्न का नाम अभ्यास है और देखी-सुनी वस्तुओं में राग का त्याग वैराग्य है। कबीर के रूपकों के भी यही दो सिपाही हैं। यही से साधना आरम्भ होती है और जब तक दर्शन नहीं करा देते तब तक इनका प्रयोग उत्तरोत्तर वृद्धि की ओर होता है लेकिन होता अवश्य है। कबीर इस पद में कहते हैं कि योगपथ के ये दोनों सिपाही दरवाजे पर हैं अर्थात् अभ्यास सही है और वैराग्य पक्का है। साथ ही हृदय-देश की क्या अवस्था है? इस पर कहते हैं–

'**सास ननदिया जागल**'– संसार में सास-ननद बहू की चौकसी करती रहती हैं किन्तु यौगिक परिवेश में सास कहते हैं स्वाँस को। कबीर कहते हैं हमारी स्वाँस जागृत है। जब नामजप उन्नत श्रेणी में पहुँचकर सूक्ष्म हो जाता है तो उसका उतार-चढ़ाव स्वाँस पर होता है। इसीलिए पूज्य गुरु महाराज जी कहते थे कि साधुवेषधारी यदि कोई स्वाँस का भजन नहीं जानता तो महापुरुष लोग अपनी कुटिया में उसे दो रोटी भी नहीं देते क्योंकि वह स्वयं तो गुमराह है ही, दूसरों को भी घूम-घूमकर पथभ्रष्ट ही तो करेगा। यहाँ कबीर बताते हैं कि उनका श्वास-प्रश्वास का भजन भी जागृत है और,

नेह आनन्द ही ननद है, नियम ननद है। प्रेम-स्नेह में विभोर होकर नियम का परिपालन भी हो रहा है, नियम जागृत है। यह नहीं कि दो दिन भजन किया, तीसरे दिन निद्रा आ गयी तो नियम कैसा? जिस प्रकार जीने के लिए खाना अनिवार्य है, सोना अनिवार्य है, जल पीना अनिवार्य है उसी प्रकार चिन्तन का क्रम न टूटे, भले ही दरवाजे पर लाश पड़ी हो। जब श्वास-प्रश्वास का भजन जागृत है, नियमित है; अभ्यास और वैराग्य का पहरा लगा है; जहाँ इनका पहरा है काम-क्रोध-लोभ-मोह जैसे शत्रु वहाँ प्रवेश ही नहीं कर पाते फिर क्या कारण है कि चित्तरूपी चुनर में दाग लग गया?

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जिसका भजन बहुत अच्छा होता है, उसे अपने भजन का भी मोह हो जाता है। इस ओर इंगित करते हुए सन्त कबीर कहते हैं–

ना मैं मोही सासु ननदिया, ना केहू देवर लागल।

निःसन्देह श्वास-प्रश्वास की क्रिया जागृत है, नियम भी परिपक्व है, सुचारु रूप से चल रहा है किन्तु इनमें हमारा कोई मोह नहीं है। इनमें मैं सन्तुष्ट नहीं हूँ। मान लें, भजन बहुत अच्छा है किन्तु इतने से भगवान तो नहीं मिल गये, परिणाम दिखाई नहीं पड़ा। इस नियम और भजन के द्वारा हम जिसे ढूँढ़ते थे, वह परमात्मा तो नहीं मिला इसलिए इससे मैं मोहित नहीं हूँ। और '**ना कोई देवर लागल**'– देवर अर्थात् द्वितीय वर! एक तो भगवान सर्वश्रेष्ठ हैं जिनका हम-आप भजन करते हैं और कभी-कभी साधकों को भ्रम हो जाता है कि इनकी अपेक्षा वह देवता या अन्य महात्मा अधिक ताकतवर तो नहीं है, गुरु महाराज से तगड़े तो नहीं हैं। 'दूसरा भी कोई श्रेष्ठ है।'– ऐसा भाव भी हमारे मन में कभी नहीं आया फिर '**दाग कहाँ से लागल!**'

एक मुसलमान और एक हिन्दू मित्र थे। दोनों साथ-साथ जा रहे थे। रास्ते में एक नाला पड़ गया। उसे पार किये बिना जाने का अन्य रास्ता भी नहीं था। तैरना दोनों को ही नहीं आता था। असहाय होने पर दोनों का ध्यान

ईश्वर की ओर गया। दोनों ने निश्चय किया कि अपने-अपने इष्ट का स्मरण करें और नाले को लाँघ जायँ! मियाँ ने कहा, 'या खुदा'; लगाई छलाँग और नाले के पार चले गये। पण्डित चक्कर में पड़े कि लगता है खुदा में ताकत है; नहीं तो यह पार कैसे होता? उन्हें भी उस पार जाना ही था तो बोले, 'हे रामजी! हे हनुमान जी! या खुदा'; लगाई छलाँग तो नाले में ही गिर पड़े। संशम में आधी शक्ति वैसे भी कम हो जाती है। अतः राम खुदइया में जो पड़ जाता है, उसका भी विनाश हो जाता है।

गीता में है- **'संशयात्मा विनश्यति'**। सृष्टि में भगवान एक से दूसरा हुआ नहीं तो दूसरा वर आया कहाँ से? लेकिन साधकों में ऐसा सन्देह माया के कारण कभी-कभी हो जाता है। कबीर कहते हैं, यहाँ वह भी नहीं है। स्वाँस और नियम की जागृति पर हमें संतोष नहीं है। भरत को तब तक संतुष्टि नहीं मिली जब तक हनुमान ने आकर कह नहीं दिया कि राम आ गये। तब तक भरत को अपने भजन का कोई भरोसा नहीं था बल्कि वह कहते थे- **'जौं करनी समुझै प्रभु मोरी। नहिं निस्तार कलप सत कोरी।।'**- मेरी करनी पर यदि प्रभु विचार करेंगे तो मेरा निस्तार सौ कल्प तक भी नहीं हो सकता। क्या भरत की करनी इतनी खराब थी? पाँच मिनट बाद ही हनुमान पहुँच गये, राम पहुँच गये। साधक ज्यों-ज्यों परमात्मा के करीब पहुँचता है, त्यों-त्यों अपनी हवा भर कमी को भी पहाड़ के समान महसूस करने लगता है। वहीं कबीर कहते हैं कि कहीं कोई कमी नहीं फिर हमारे संयत चित्त में दाग कहाँ से पड़ा? अगले पद में वे कहते हैं-

ना मैं मोही गोदी के बलकवा।

जब स्वाँस का निरोध हो चला, नियम-संयम परिपक्व है, अभ्यास और वैराग्य की सच्ची ड्यूटी है, दसों इन्द्रियों में ताले लगे हैं, भजन चल रहा है; ऐसी परिस्थिति में 'गोदी'- गो माने मनसहित इन्द्रियाँ; इन इन्द्रियों के अन्तराल में प्रभु का स्वरूप उभरकर आता है, भगवान हृदय में उतर आते

हैं। जहाँ स्वरूप हृदय में संचारित हुआ तो बहुत से साधक उतने में ही मुग्ध हो जाते हैं, संयम शिथिल पड़ जाता है। कबीर कहते हैं– **'ना मैं मोही गोदी के बलकवा'**– इन्द्रियों के अन्तराल में प्रभु का जो स्वरूप उतर आया, उतने से ही मैं सन्तुष्ट नहीं हूँ क्योंकि भले स्वरूप उतार आया है मैं तो अलग हूँ, स्वरूप ने हमें तो समाहित नहीं किया अतः उतने में ही मैं मुग्ध भी नहीं हूँ; फिर **'चुनर भइ कस काजल'**– चित्तरूपी चुनर में दाग कैसे लगा? यह काली कैसे हो गयी? अब बताते हैं, यह आवरण कैसे आया?

कौन अनरूप से चोरवा आयल, दाग लगा कर भागल।

'कौन अनरूप से' कोई अदृश्य चोर आया। हर विकार अदृश्य होकर ही आता है। मेघनाद अदृश्य होकर लड़ता था। विकारों से भी सूक्ष्म है उनके संस्कार! महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि देशकाल का व्यवधान होने पर भी संस्कार समय पर घटित होते ही हैं। वह अरूप हैं जिनके आने की कोई कल्पना भी नहीं है किन्तु वह अनायास, अकस्मात् प्रकट हो जाता है और **'दाग लगा कर भागल'**– संस्कार केवल एक बार आता है। जिस श्रेणी का संस्कार है वैसा रूपक खड़ा हो जायेगा और समाप्त हो जायेगा, पुनः नहीं आयेगा। महाभारत का आख्यान है– कर्ण के पास चुंचुक नाम का एक नाग आया। उसने कहा– ''मैं अर्जुन का जन्मजात बैरी हूँ। मैं उसे मार डालूँगा। केवल तुम मुझे उसके पास तीर की तरह फेंक दो। मैं स्वयं नहीं चल सकता किन्तु कोई योद्धा मेरा प्रयोग कर सकता है।'' कर्ण ने उसे अपने तरकश में रख लिया। जब कर्ण ने चुंचुक को अर्जुन की ओर छोड़ा, भगवान श्रीकृष्ण ने रथ को नीचे दबा दिया। अर्जुन के मुकुट का स्पर्श करते हुए चुंचुक आगे निकल गया। वापस आकर चुंचुक क्रोध में बोला, ''कर्ण! एक बार तुम मुझे फिर छोड़ो! मैं एक जबड़ा पृथ्वी पर और दूसरा आकाशपर्यन्त फैलाकर श्रीकृष्ण और अर्जुन को रथसमेत निगल जाऊँगा।'' किन्तु कर्ण ने उसे डाँट दिया कि चल भाग! एक बार छोड़े हुए बाण को मैं दोबारा नहीं छोड़ता। यह

है विजातीय कर्मरूपी कर्ण! है तो पाण्डवों का सगा भाई; किन्तु प्रबल विजातीय शत्रु है। पुण्यरूपी पाण्डु के संसर्ग से पूर्व साधक कर्त्तव्य समझकर जो भी कर्म करता है, वे उसे बहुत परेशान करते हैं। कर्ण आजीवन पाण्डुपुत्रों से लड़ता रहा। अस्तु, चुंचुक अर्थात् चित्त के अन्तराल में संस्कारों की जो रील है, वह जब घटित होता है, दाग लग जाता है। वह एक ही बार घटित होता है, बार-बार नहीं। यही है अनरूप से चोर का आना क्योंकि हमारा चित्त शान्त है, संयम परिपक्व है, भजन जागृत है, बाहर पहरा लगा है, इन्द्रियों के सभी दरवाजे भली प्रकार निरुद्ध हैं फिर भी अन्तराल में छिपे संस्कार अकस्मात् प्रकट होते हैं और एक कालिमा लगाकर चले आते हैं। यह एक बलात्कारिक विघ्न है। इन संस्कारों के भी काटने का उपाय बताते हैं–

यह चुनरी मैं मलि मलि धोई, धोवत धोवत भई पागल।

इस चित्तरूपी चुनरिया को हमने मल-मल के धोया, सतत् अभ्यास के द्वारा धोया! इतना धोया कि '**धोवत धोवत भई पागल**'– धोते-धोते एक नशा सवार हो गया। '**लोग कहें मीरा भई बावरी**'– लोग मीरा को पगली कहने लगे थे। सुतीक्ष्ण को भजन का नशा हो गया तो उनकी यह स्थिति हो गयी कि '**को मैं चलेऊँ कहाँ नहिं बूझा**'। भजन में एक अवस्था ऐसी आती है। जड़भरत, कागभुसुण्डि सबको इस अवस्था से गुजरना पड़ा। हमलोगों के गुरु महाराज को भी लोग पागल ही कहा करते थे। गुरु महाराज बताते थे कि "उन दिनों कोई पास आकर बैठ जाये तो मन में होता था कि यह कब उठकर चला जाय। चिन्तन में बड़ा आनन्द आता था।" यही कबीर कहते हैं कि चुनरी को धोने में हम पागल हो गये। क्या सचमुच मस्तिष्क विकृत हो गया? वे कहते हैं, नहीं!,

कहत कबीर सुनो भाई साधो, हरि जी से नेहिया लागल।

कबीर कहते हैं, पागल होने जैसी कोई बात नहीं थी, वास्तव में हरि जी से नेह की डोर लग गयी।

हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रकट होहिं मैं जाना।।

भगवान सर्वत्र समान रूप से व्याप्त हैं लेकिन उन्हें खोज निकालने की कुँजी केवल प्रेम है। वह प्रेम से प्रकट होते हैं। भगवान शिव कहते हैं कि हमने सुना नहीं, हमने इस बात को कहीं पढ़ा नहीं बल्कि '**मैं जाना**'– मैंने उसे प्रत्यक्ष जाना है। कबीर कहते हैं कि मैं पागल नहीं हुआ बल्कि '**हरि जी से नेहिया लागल**'– भगवान से जब सचमुच नेह की डोर लग जाती है तो मनुष्य की दशा पागलों जैसी हो जाती है। इस चित्त के दाग को छुड़ाने का एक ही उपाय है– स्नेह की डोरी भगवान से लग जाय। मल-मल कर चुनर को सतत् धोना है। इसका क्रम तब तक न टूटे जब तक अन्तिम संस्कार मिट न जाय।

मंत्र महामनि विषय ब्याल के। मेटत कठिन कुअंक भाल के।।

भाग्य में असाध्य कुअंक, घोर नरक और यातना लिखा है वह भी मिट जायेगा, मंत्र में ऐसी क्षमता है। एक अन्य पद में सन्त कबीर कहते हैं–

राम नाम का साबुन ले ले, कृष्ण नाम दरियाई।
अपने गुरु को कर ले बरेठा, जनम दाग धुलि जाई।।
चोलिया काहे न धुलाई, सुन्दर बाँके जोगिया......

राम नाम का साबुन, कृष्ण नाम की दरिया, गुरु को धोबी बना लें तो जन्म-जन्मान्तरों का दाग भी धुल जायेगा।

!! बोलिये श्रीगुरुदेव भगवान की जय !!

अमृतवाणी

(कैसेट संख्या– 12:2)

गाँठ पड़ी पिया बोले न हमसे

गाँठ पड़ी पिया बोले न हमसे!

निसिदिन जागूँ मैं पिया तोरी सेजिया,
नैन अलसाने निकसि गये घर से। गाँठि पड़ि........

जो मैं जनतिउँ पिया रिसिअइहैं,
काहे को नेह लगवतिउँ यहि जग से। गाँठि पड़ि........

अपने पिया को मैं बेगि मनइहौं,
सौ तक सीर होत हरि जन से। गाँठि पड़ि........

सुनि प्रिय वचन पिया मुसुकाने,
कहत कबीर पिया मिलैं बड़े तप से। गाँठि पड़ि.......

पूज्य गुरु महाराजजी के पास सती अनुसुइया आश्रम में कभी बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय तो कभी इलाहाबाद विश्वविद्यालय के रीडर, प्रोफेसर, वाइसचांसलर इत्यादि पहुँच जाया करते थे। पहले तो वे अपने अध्ययन-अध्यापन की चर्चा करते, पुनः निवेदन करते कि महाराज! साधन समझ में नहीं आता। साहित्य और दर्शनशास्त्र के शोध-प्रबन्धों पर हमलोग ही पी-एच.डी. की उपाधि स्वीकृत करते हैं किन्तु भजन समझ में नहीं आता।

महाराजजी ने उनसे कहा, ''हो! सब बात सब कोई जानत है। दो-दो पैसे में वेदान्त बिकत है (उन दिनों गीता प्रेस से गीता दो पैसे में मिलती थी) लोग पढ़ते हैं और लिखते भी जाते हैं। न जाने का लिखत हैं लेकिन साधन

ही एक ऐसी वस्तु है जो लिखने में नहीं आती बल्कि किसी अनुभवी सद्गुरु के द्वारा किसी-किसी अधिकारी, विरही साधक के हृदय में जागृत हो जाया करती है। भजन लिखने में नहीं आता! आप लाख बतायें कि ध्यान ऐसे धरो, नाम ऐसे जपो; यह भजन नहीं है, भजन का प्रयास मात्र है। भजन तो हरि-प्रेरित होता है।''

जब हम महाराजजी की शरण में आये, डेढ़-महीने तक तो सब यथावत् रहा, कोई उल्लेखनीय घटना नहीं हुई किन्तु डेढ़ महीने के पश्चात् एँड़ी से चोटी तक आधा-आधा इञ्च की दूरी पर हमारा अंग फड़कने लगा और उसी के अनुरूप कुछ दृश्य भी दिखाई देने लगे। हमने सोचा कि हमें कोई बीमारी हो गयी! हमने महाराजजी से प्रार्थना किया कि महाराज जी! हमें कोई रोग तो नहीं हो गया? हमें ऐसे-ऐसे फड़क रहा है, ऐसा दृश्य दिखाई दे रहा है!

महाराजजी बोले– ''बेटा! तुम्हारे भीतर अब राम-रावण युद्ध शुरू हो गया है। अब रावण मारा जायेगा, राम का राज्याभिषेक हो जायेगा तभी यह शान्त होगा। बेटा! भजन जागृत हो गया, शुरू हो गया।'' अस्तु, साधन-भजन न तो कहने में आता है और न ही लिखने में आता है। अनुभवी सद्गुरु के प्रति मन-क्रम-वचन से समर्पण, उनके स्वरूप को हृदय में पकड़कर उनके द्वारा बतायी गयी साधना, टूटी-फूटी ही सही, जहाँ पार लगी, भजन का संचार आन्तरिक रूप से स्वतः हो जायेगा। भगवान आपको ग्रहण कर लेंगे, आत्मा से अभिन्न होकर रथी हो जायेंगे। जिस परमात्मा की हमें चाह है वही हृदय से जागृत हो जायेंगे। वह आपको उठायेंगे, बैठायेंगे, सुलायेंगे, भजन सिखायेंगे और आगे बढ़ायेंगे; कब खतरा होनेवाला है, कब नहीं!– यह समझायेंगे। उनके निर्देशों को समझते हुए आगे बढ़ना भजन है। इसलिए भजन सदैव हरिप्रेरित होता है। यह कहने में नहीं आता; जिसके हृदय में यह जागृति हो, वह जानता है– **'कै जाने जिय आपना, कै रे जनावे पीउ।'**; किन्तु कभी-कभी साधक उनके आदेश का उल्लंघन कर बैठता है। तब भगवान नाराज हो जाते हैं। इसी आशय का संत कबीर का यह भजन है–

गाँठ पड़ी पिया बोले ना हमसे।

गाँठ पड़ने का आशय होता है फर्क पड़ जाना, मनमुटाव हो जाना, नाराज हो जाना, बोलचाल बन्द हो जाना। गाँठ पड़ गयी का तात्पर्य है कि भगवान के आदेश का कहीं न कहीं उल्लंघन हो गया है, वे नाराज हो गये हैं। अब उन्होंने हमारा मार्गदर्शन करना बन्द कर दिया है। यह डाँट पड़ी तो क्यों पड़ी?

'निसिदिन जागूँ मैं पिया तोरी सेजिया'– अहर्निश जागरण! किसी से कह दें कि रात-दिन जागो! क्या वह जग पायेगा? कभी नहीं! किन्तु भगवत्पथ का ऐसा ही विधान है–

जागत में सुमिरन करे, सोवत में लव लाय।
सुरत डोर लागि रहे, तार टूट न जाय।।

साधक जब तक जागे, उसे सुमिरन करते रहना चाहिए और शयन करते समय भी चरणों में लौ लगाकर ध्यान धरकर सोये जिससे जगने पर भी सुरत चरणों में ही लगी मिले, निद्रा में भी कोई अनर्थ न हो जाय, भजन का क्रम न टूटे– यही है निशिदिन का जागना!

'निसिदिन जागूँ मैं पिया तोरी सेजिया'– परमात्मा की सेज कौन? अन्यत्र सन्त कबीर कहते हैं–

ज्ञान तखत संतोष बिछौना, सुरत की सेजिया बिछाय लो अँधेरिया में का करिहौ?
यहिं उजिअरिया में बिछाय लो, अन्हरिया में का करिहौ?

ज्ञान अर्थात् ईश्वरीय आदेश मिलता रहे, यह है तख्त! आदेश के अनुरूप साधना से संतुष्टि मिले– यह हो गया बिछौना और सुरत की सेज सजा लो। सुरत कहते हैं मन की दृष्टि को! आप यहाँ बैठे हैं। अचानक मन में विचार आ गया कि तिजोरी का ताला तो खुला रह गया। उसमें दो लाख रखा था, कहीं लड़के दाहिने-बायें न कर दें। फिर तो यह सत्संग सुनाई नहीं

पड़ेगा। छत्तीसों रागनियाँ बज रही हों, कान खुले हैं फिर भी सुनाई नहीं पड़ेगा और तिजोरी का दृश्य सामने नाचने लगेगा। वस्तु नहीं है और वस्तु का सजीव चित्र मन खींच लेता है। इस दृष्टि का नाम सुरत है। भगवान का सुमिरन भी इस सुरत से ही होता है–

सूरत में गुरु मूरती, स्वाँसा में सतनाम।
उर अन्दर निरखत रहे, अनुभव सारे काम।।

इस प्रकार भगवान की शय्या सुरत के अन्तराल में है जब चरणों में लौ लग जाती है। यही सुरत का निशिदिन जागना है। **'नैन अलसाने निकसि गये घर से'**– चूक कहाँ हुई? **'नैन अलसाने'**, नेत्र जरा-सा अलसा गये। कौन-से नेत्र? इन आँखों से तो हम भगवान को देख भी नहीं सकते। उनका आसन तो मन की दृष्टि में लगा है तो आलस्य किन नेत्रों में आया? भगवान को देखनेवाले नेत्र हैं ज्ञान और वैराग्य!

मर्मी सज्जन सुमति कुदारी। ज्ञान बिराग नयन उरगारी।।
भाव सहित खोजइ जो प्रानी। पाव भगति मनि सब सुख खानी।।
(रामचरितमानस, 7/119/14-15)

जो प्रभु प्रदान करते हैं आत्मा की उस आवाज को परखना, समझना ज्ञान है और देखी-सुनी वस्तुओं में राग अर्थात् लगाव का त्याग वैराग्य है। यही दो नेत्र अलसा जाते हैं। आदेश मिला उसमें कुछ अवहेलना हो गयी। वैराग्य क्षीण हो गया अर्थात् अन्यत्र कहीं राग जुड़ गया। आदेशों के निर्वाह में प्रमाद आ गया। इस प्रकार जहाँ **'नैन अलसाने'** तो प्रभु **'निकसि गये घर से'**– जिस सुरत से हम प्रभु को पकड़े रहते थे, मन की उस दृष्टि में जहाँ अन्य राग हुआ तो वह पकड़ में आ गया और हृदय से भगवान चले गये। अब गाँठ पड़ गयी, उन्होंने मागदर्शन करना बन्द कर दिया।

जो मैं जनतिउँ पिया रिसिअइहैं,
काहे को नेह लगवतिउँ एहि जग से।

यदि मुझे इसका रंचमात्र भी पूर्व आभास होता कि भजन के अतिरिक्त जरा-सा दाहिने-बायें ताकने से भगवान रूठ जायेंगे, अपनी महिमा समेट लेंगे तो इस संसार से लगाव ही क्यों रखती?

तुलसी मन तो एक है, भावै जहाँ लगाव।
भावै हरि की भक्ति कर, भावै विषय कमाय॥

मन तो एक था। जो सुरत चरणों में लगी थी, वह संसार की विलासिता में भटक गयी। इधर भटकने का आशय है कि वैराग्य हलका हो गया और राग संसार की ओर हो गया। यही है नैन का अलसाना। इससे प्रियतम नाराज हो गये। यदि मुझे इसका पता होता तो मैं जगत् की ओर दृष्टि ही क्यों घुमाती?

इसी आलस्य के क्षण पूज्य गुरु महाराजजी के भी साधन-काल में आये। वैसे तो शुरू-शुरू में गुरु महाराज का घर आकाशवाणियों के माध्यम से छूटा। भगवान ने ही उनसे घर छुड़ाया। आरम्भ में वह गाँव के बाहर एक झाड़ी में बैठकर भजन करते थे। भोजन पर ध्यान न देने से शरीर कृश हो चला। राह चलते पुरुष-महिलायें आपस में कहते कि 'सोचते हो सन्त जी भजन कर रहे हैं? इन्हें तो पीलिया, टी.बी. हो गई है। घड़ी टल रही है, जब न मर जायँ। देखोगे चार दिन में फूँके जा रहे हैं।' महाराज जी बताते थे– हो! जब ये शब्द हमारे कान में पड़े, हमने भगवान से पूछा, 'प्रभो! क्या यह ठीक कहते हैं?' भगवान ने बताया, 'उन्हें कहने दो। तुम लगे भर रहो।' तुम्हारा भावी मंगलमय है।' महाराजजी ने बताया– इतना आश्वासन मिलने से हम निश्चिन्त हो गये। हमें पता ही न रहे कि कौन क्या कह रहा है? कौन क्या सुन रहा है? अपने भजन में लगे ही रह गये।

क्रमशः भक्तों ने महाराजजी के निवास-स्थान पर कुटी बना दी; कुछ पेड़-पौधे, एक बगीचा जैसा लगा दिया। गुरु महाराज जीवन के आरम्भिक वर्षों में प्रख्यात पहलवान थे, अपने अखाड़े के उस्ताद थे। उनके शागिर्द पट्ठे ही दाहिने-बायें आकर बगीचा लगाने लगे। बगीचे में बौर आने लगा। गुरु

महाराज बताते थे कि पहले रोज इच्छा हो कि भगवान जल्द आदेश देते कि हम यह जगह छोड़ देते, गाँव के पास रहना ठीक नहीं है; लेकिन भगवान आदेश ही न दें। किन्तु जब बगीचे में बौर आने लगा तब महाराज जी के मन में यह भाव आया कि अब कहीं जाने की आवश्यकता नहीं है। बौर आ रहे हैं तो फल भी आयेंगे ही! फल-फूल खायेंगे और यहीं भजन करेंगे, कहीं नहीं जायेंगे। बगीचे में किञ्चित् लगाव-सा हो गया।

जिस दिन मन में ऐसा विचार आया, उसी दिन भगवान से आदेश मिला, "प्रयागराज जाओ।" बड़े सवेरे आप प्रयाग जाने की तैयारी करने लगे तो गाँव के ही पाँच-सात लोग साथ हो लिये। प्रयाग आ गये। महाराजजी ने भगवान से पूछा– 'अब क्या करें?' भगवान का निर्देश मिला– 'इन लोगों का साथ छोड़ दो।' महाराजजी उन लोगों से बिना कुछ बताये चुपचाप गायब हो गये। रात नौ बजे चले तो चलते ही रह गये। सवेरा हो गया। गंगा में थोड़ा डुबकी लगाया। पुनः आपने पूछा– 'अब क्या आदेश है?' भगवान ने कहा– 'शरीर पर जो वस्त्र पहने हो, उतारकर गंगा किनारे रख दो।' महाराज एकदम दिगम्बर हो गये। निवेदन किया– 'प्रभो! अब?' भगवान ने कहा– 'कमण्डल उठाओ और गंगा के किनारे-किनारे चलते जाओ।' बस, न जान न पहचान! महाराजजी चल पड़े। दो उपवास-तीन उपवास आये दिन की घटना बन गयी परन्तु प्रायः तीसरे दिन भोजन का कोई न कोई अयाचित प्रबन्ध हो ही जाता। महाराजजी पेट के लिए कभी भिक्षा नहीं करते थे। वह सोचते थे कि जब भगवान ने मुझे साधु बनाया है तो व्यवस्था भी वही करेंगे। हम चिन्ता क्यों करें? कभी महुआ के पेड़ के नीचे रात बीते तो कभी बाँस की कोठी में! कभी कोई कुटिया मिल जाय तो उसके समीप रात्रि व्यतीत हो जाय। इस प्रकार वर्षों विचरण चलता ही रहा। महाराजजी कहा करते थे, "हो! बगीचे में थोड़ी-सी ममता आ गयी तो भगवान ने लँगोटी भी खोलवा के फेंकवा दिया, दिगम्बर बनाकर वहाँ से भगा दिया।

विचरण करते-करते गुरु महाराज अयोध्या की ओर निकल गये। सरयू नदी पार कर लकड़मण्डी के आगे जा रहे थे। वर्षा ऋतु आ गयी थी। महाराजजी ने भगवान से निवेदन किया– 'वर्षा में विचरण में कष्ट होता है। आदेश होता तो कहीं चातुर्मास कर लेते।' उस दिन अनुभव में आदेश मिला– आपको दिखाई पड़ा कि सड़क पर चले जा रहे हैं, जंगल में पहुँच गये। इस ओर पिताजी का घर है, सड़क के दूसरी ओर माताजी का घर है। पास में एक बेल का पेड़ है। उसी के नीचे बैठकर चतुर्मास करना है।

महाराजजी ध्यान-समाधि से जब सचेत हुए, अनुभव निर्देश पर विचार करने लगे। उन्हें प्रतीत हुआ कि भगवान भी अच्छा विनोद करते हैं। माता-पिता को मरे न जाने कितना समय हो गया और भगवान बता रहे हैं इधर माता का घर है, उधर पिता का घर! जिधर मुख था उसी दिशा में चल पड़े। कहीं जाना तो था नहीं। भजन ही तो करना था। स्वाँस में सुरत को लगा लिया। स्वभाववश पाँव आगे बढ़ रहे थे। सड़की की पटरी से चलते-चलते सुबह से शाम हो गयी। कितनी गाड़ियाँ निकलीं, कितने लोग निकले, कुछ पता नहीं। वह तो सचेतावस्था में ध्यानस्थ होकर चल रहे थे। अचेत रहने पर ठोकर लग सकती है, मन जो भजन में लगा है, बाहर भागने लगेगा। अपने लक्ष्य के अनुरूप जागृत होकर चलना सचेतावस्था कहलाती है।

शाम होते ही अँधेरा छाने लगा, आगे कम दिखने लगा तब महाराजजी ने आँख खोला। उन्हें सड़क के एक ओर देवी मन्दिर और दूसरी ओर शंकर जी का मन्दिर दिखाई पड़ा। महाराजजी को अपना अनुभव याद आया। वह विचार करने लगे, कहीं यही माताजी-पिताजी तो नहीं हैं? सगुन मिला– 'हाँ, यही है।' महाराजजी को याद आया, 'तब तो यहाँ बेल का पेड़ भी दिखायी पड़ना चाहिए।' अनुभव में जितनी दूरी पर दिखायी पड़ा था, बेल का पेड़ ठीक उतनी ही दूरी पर था। महाराजजी पेड़ के नीचे बैठकर भजन करने लगे।

देवी के पुजारी ग्रामवासी थे। महिलायें देवी को पूड़ी-हलवा चढ़ाने आतीं तो उनके साथ दो व्यक्ति लाठी लेकर आते कि एक पगला वहाँ बैठा

है, कहीं उपद्रव न कर दे। जंगल में एक प्राइमरी पाठशाला थी। छोटे बच्चों के संज्ञान में आया। उन्हें मनोरंजन का साधन मिल गया। स्कूल आते-जाते वे महाराजजी के ऊपर कंकड़-पत्थर फेंकते। पत्थर कभी इधर गिरें कभी उधर; महाराजजी ने ध्यान ही नहीं दिया। क्रमशः बच्चे प्रगल्भ हो चले। एक लड़के ने समीप आकर पत्थर मारा। वह आपको लग गया, रक्त निकल आया।

महाराजजी ने सोचा, लड़के लहगर होते जा रहे हैं। वह उठकर खड़े होकर बिगड़े, "धत् तेरे की! खड़ा तो रह!" सभी बच्चे एक-दूसरे से उलझकर गिर पड़े, धूल-धूसरित हो गये। गिरते-पड़ते, चीखते-चिल्लाते वे अपनी माताओं की गोद में दुबक गये; बोले– 'पगला मारा, पगला खा गया।' गाँववालों ने कहा– पहले बच्चों को तो गिन लो! कौन आया, कौन नहीं? जब सब के सब सुरक्षित मिले तो वह आश्वत हुए। फिर भी उन्होंने सोचा, बच्चों को रोज ही आना-जाना है, उस पागल को भगाओ। लाठी-डण्डा लेकर वे समूह बनाकर चले कि यदि उसने बच्चों को मारा है तो अब तक भाग गया होगा। दूर से लोग एक-दूसरे से कहते, "घेरो रे! भागने न पाये। तुम इधर से, तुम उधर से बढ़ो!" महाराज जी बैठे ही थे। सब पहुँच गये। महाराजजी को शान्त देख लोग असमंजस में पड़े कि यह साधू है या पागल है? कौन है यह? किसी ने कहा– इसे लाठी मारो तभी इसका कण्ठ फूटेगा। लोग आपस में व्यंग करने लगे। एक ने कहा– कहीं यह सन्त न हों। गाँव से पदारथ काका को बुला लो। वह अनुभवी और सुलझे हैं। उन्होंने सन्तों की बड़ी सेवा की है। वह अवश्य पहचान कर लेंगे।

ठाकुर राम पदारथ सिंह गाँव से बुलाकर लाये गये। उन्होंने आते ही महाराजजी को साष्टांग दण्डवत् करते हुए एक दोहा कहा–

एक बार हरि घोड़ा भये, ब्रह्मा भये लगाम।
चाँद सुरुज रबिका भये, चढ़ि गये चतुर सुजान॥

महाराजजी ने हाथ उठाकर उन्हें आशीर्वाद दिया। सात दिनों में यह पहला प्रणाम था। पहले तो सब पागल समझकर दूर ही दूर रहते रहे। ठाकुर

साहब ने आग्रह किया, ''महाराज! जरा इस दोहे का अर्थ बता दें।'' गुरु महाराज ने कहा- बेटा! यह मन ही घोड़ा है, बड़े वेग से दौड़नेवाला है। भगवान जब मन की लगाम अपने हाथ में ले लेते हैं, स्वयं संचालक बन जाते हैं; यह मन उस समय मन नहीं रह जाता। भगवान ही मन में ढल जाते हैं। यही है हरि का घोड़ा बनना। और '**ब्रह्मा भये लगाम**' तो '**अहंकार सिव बुद्धि अज**'- बुद्धि ही ब्रह्मा है। साधारण बुद्धि ब्रह्मा नहीं होती बल्कि ईश्वरीय आदेशों को धारण करनेवाली बुद्धि ब्रह्मा है। बुद्धि उनके हाथ का यन्त्र बन जाती है कि भगवान चाहते क्या हैं, कहते क्या हैं? उसे समझना और उसके अनुसार आगे कदम बढ़ाते जाना। उस समय बुद्धि ही ब्रह्मा है।

'**चाँद सुरुज रबिका भये**'- दाहिने स्वर को सन्तों ने पिंगला या सूर्य नाड़ी और बायें स्वर को इड़ा या चन्द्र नाड़ी कहा है। स्वाँस आई तो ओम्, गयी तो ओम्- यही रकाब है, पाँव रखनेवाला पायदान है जो घोड़े पर लटकता रहता है। '**चढ़ि गये चतुर सुजान**'- जो चतुर हैं, वास्तविकता के ज्ञाता हैं, वह इसी श्वास-प्रश्वास के भजन के सहारे मन पर चढ़ जाते हैं, दौड़नेवाले मन को निरुद्ध कर लेते हैं। इस पद में भजन की एक अवस्था का चित्रण है।

वयोवृद्ध पदारथ काका गाँववालों पर बिगड़ पड़े- जल्दी दूध लाओ! सात दिन से एक महापुरुष भूखे-प्यासे बैठे हैं। अरे, गाँव का नाश हो जायेगा। जल्दी जाओ, हमारे घर से दूध लाओ। फिर तो सारा गाँव सेवा में लिपट पड़ा।

आकाश में बादल उमड़-घुमड़ रहे थे। गरज के साथ हल्की बूँदा-बाँदी भी होने लगी। सबने कहा- कल महाराजजी की कुटिया इस बेल के नीचे बन जायेगी। कल हमलोग कोई काम नहीं करेंगे, महाराजजी की सेवा में रहेंगे। शाम को ऐसा संकल्प कर ग्रामवासी क्रमशः घर चले गये और प्रातः अपना-अपना हल लेकर खेतों में चले गये। महाराज ने सोचा- अच्छे भक्त मिले; रात में कुछ, सवेरे कुछ और! अभी लोग हल बैलों के कंधे पर रख एकाध हराई ही जोत पाये थे कि लगा पानी बरसने। मूसलाधार वर्षा होने

लगी। अब ऐसे में जुताई कैसे होती? उन लोगों ने हल पुनः घर में रखा और भींगते हुए हुए महाराजजी के पास आये, कुटिया बनाने का उपक्रम करने लगे। महाराजजी ने कहा– नहीं बनाना है कुटिया! भागो यहाँ से। जाओ अपना काम करो। हर जोतो! लोग हँसते रहे, सुनते रहे। तीन दिन, तीन रात पानी बन्द ही नहीं हुआ और भींगते हुए लोग कुटिया बनाने के काम में लगे ही रह गये। जब कुटिया सज गयी, पानी बन्द हो गया। लोग अपने-अपने काम में लग गये।

यह सौभाग्यशाली स्थल गोण्डा जिले का मधवापुर ग्राम था। जमींदारों का गाँव और उन्हीं का जमाना! भारत अभी स्वतन्त्र नहीं हुआ था। एक जमींदार बोले, महाराज! आज हमारी तरफ से भण्डारा! लेकिन उसमें केवल लड़के-लड़के ही खायेंगे तो वृद्ध उस दिन भण्डारे से वंचित रह गये। दूसरे दिन लड़कियाँ ही लड़कियाँ खायेंगी, दूसरे लोग न पायें। तीसरे दिन सयानों का तो अगले दिन वयोवृद्धों का! दो-एक सप्ताह इसी तरह के भण्डारे चले। एक बार श्रीमद्भागवत की कथा का आयोजन हुआ। पूर्णाहुति के दिन भण्डारे में कई गाँव के लोग उत्साहपूर्वक सम्मिलित हुए। पंगती चल रही थी। महाराज जी बेलवृक्ष के नीचे बैठे थे। वह उस क्षेत्र का सबसे बड़े फलवाला बेल था किन्तु कभी किसी को खाने के लिए नहीं मिलता क्योंकि वह इतना मीठा था कि पकने से पूर्व ही सड़-सड़कर गिर जाया करता था। एक बेल लगभग ढाई-तीन किलो का सीधे महाराजजी के शिर के ऊपर गिरा– धड़ाम! महाराजजी शिर पकड़कर बैठ गये। पंक्ति में प्रसाद पाने बैठे लोग भागकर महाराजजी के पास एकत्र हो गये। वे कहने लगे– महाराजजी के ऊपर बेल गर गया, बेल गिर गया। थोड़ी देर में महाराजजी प्रकृतस्थ हुए तो उठाया सड़ँसा और पेड़ के तने के पास आकर बिगड़े, "क्यों रे अधम! इतनी जगह अगल-बगल थी, हमारे शिर पर ही तुम्हें गिरना था? बेलवृक्ष को तीन सड़ँसा मारकर बोले, "आज से यदि सड़ेगा तो हम सधुआई छोड़ देंगे। उसके बाद वह बेल कभी सड़ा नहीं, आज भी है। क्षेत्र में प्रसाद-स्वरूप जाया करता है। वृक्ष ने भी महाराजजी की आज्ञा को शिरोधार्य किया।

मधवापुर निवास की अवधि में कई विलक्षण घटनाएँ घटित हुईं। उस समय मधवापुर का जंगल मनकापुर स्टेट के अन्तर्गत आता था। राजा के वनविभाग के वनरक्षक एक मिश्राजी थे। वह बड़े साधुसेवी और भाविक व्यक्ति थे। एक दिन महाराजजी से उन्होंने निवेदन किया कि जाड़े में धूना तापने में जितनी लकड़ी लगेगी, यह साधारण-सी सेवा मुझे मिले, मैं करूँगा। महाराजजी ने कहा- जैसी तुम्हारी इच्छा! वह अपनी बैलगाड़ी में लक्कड़ भरकर स्वयं चलाकर लाते और कुटिया के समीप गिरा दिया करते। महाराजजी के यहाँ पर्याप्त लकड़ी सदैव जमा रहती। पास में ही मिश्राजी का गाँव था। वह यथाशक्ति अन्य सेवा भी करते रहे। उन्होंने चार महीने जाड़ापर्यन्त खूब धूनी तपाया।

चैत के महीने में उस क्षेत्र में हैजा फैल गया। उन दिनों इलाज की इतनी अच्छी व्यवस्था न थी जैसी आजकल है। हालात यह हो गये कि इस गाँव से दो लाश चली गयी तो उस गाँव से एक! हर गाँव में तड़प तो कई-कई रहे थे। उस हैजे की चपेट में मिश्राजी भी आ गये। लोगों ने सूचना दिया कि गुरु महाराज! मिश्राजी को तो हैजा हो गया! मर गये!

महाराजजी बताते थे- हो! सुनते ही हमारा दिमाग सन्न हो गया, जैसे मस्तिष्क है ही नहीं! कुछ देर में महाराज को बात समझ में आयी तो बोले- "क्यों रे! सचमुच मर गये? जो साधु की सेवा करे वह मर ही जाय तो साधु भाड़ में न जइहैं? ऐसी सेवा से क्या फायदा? भगवान को उनसे सेवा करवाना चाहिए था जिनके पास जीवन था! मरनेवालों से हमारी सेवा क्यों कराई? हमारी बदनामी कराके रख दिया।" सब चुप थे, क्या बोलते?

महाराज पुनः बोले- "क्यों रे! मर गया कि अभी जीवित है? जाओ देखकर आओ।" मिश्राजी का गाँव वहाँ से दो-ढाई किलोमीटर दूर था। दो लड़के सपाट दौड़कर उनके गाँव तक तो गये किन्तु उनके घर की ओर जाने का साहस नहीं कर पा रहे थे क्योंकि हैजा संक्रामक रोग है। उसके कीटाणु हवा के साथ भी उड़ते हैं। इसलिए उन्होंने दूर से ही मिश्राजी के लड़कों का

नाम लेकर पुकारा। लड़कों ने घरवालों से कहा– रोना-धोना बन्द करो! कोई पुकार रहा है। वे लड़कों के पास गये।

लड़के बोले– गुरु महाराजजी ने पूछा है कि मिश्राजी कैसे हैं? हमें भेजा है देखकर आओ! घरवालों ने बताया– मिश्राजी को चारपाई से नीचे उतार दिया गया है। गाय-बछिया का दान उनसे करा दिया गया है। उनकी स्वाँस बन्द हो जाती है, थोड़ी देर में लौट आती है। कभी-कभी स्वाँस दो-दो मिनट तक बन्द रहती है। बच्चे पुनः दौड़ते हुए लौटे और महाराजजी को बताया कि अब उनके जीवन की आशा समाप्त ही हो गयी है। गऊ दान हो चुका है। चारपाई से नीचे उतार दिया गया है।

महाराज ने कहा– यह विभूति लेकर जाओ। उसको खिला देना, उसके शरीर में भी लगा देना। यदि जीते-जी वह विभूति पा जायँगे तो मरेंगे नहीं। वे लड़के पुनः दौड़कर गये, दूर से ही आवाज लगायी। घर के लोग आये, बोले– अब क्या है? बच्चों ने बताया कि गुरु महाराज ने यह विभूति भेजी है। उन्होंने कहा है, 'इसे खिला दो, शरीर में लगा दो। यदि जीते जी विभूति पा गये तो मरेंगे नहीं! आकर हमें बताओ।'' वह लोग गये। विभूति मुँह में डाला, मिश्राजी के शरीर में लगाया और लौटकर बताया कि वह जीते जी विभूति पा गये। उन्होंने कहा– हमारे पिताजी भाग्यशाली थे जो अन्तिम समय में गुरु महाराज की विभूति पा गये। लड़के दौड़कर आये और महाराजजी को बताया कि वह जीते जी विभूति पा गये।

महाराजजी ने उन बच्चों से कहा, "अच्छा, अब भागो! घर जाओ।'' बच्चों ने प्रणाम किया और चल पड़े। उन्हें महाराजजी का यह आदेश खटका। रोज तो वे महाराजजी के पास साढ़े नौ-दस बजे तक रहते थे। आज रात आठ बजे ही घर भेज रहे हैं! बात क्या है? लगता है अल्टीमेटम बहुत बड़ा दिया है कि विभूति पा जायँगे तो मरेंगे नहीं! और मिश्राजी को बचना नहीं है, अब मरें कि तब! हमलोगों को हटाकर महाराजजी लज्जा के कारण रात में ही भाग जाना चाहते हैं। मिश्राजी मरें या जियें! यह तो दुनिया है।

मरने-जीने का नाम ही तो संसार है लेकिन यह महात्मा बहुत अच्छे हैं। यह भागने लगेंगे तो हमलोग उनके चरणों में गिरकर उन्हें रोक लेंगे। बच्चों ने गाँव में बताया। सबसे आपस में सलाह किया और गाँव के ठाकुरों ने रातभर के लिए महाराजजी रखवाली के लिए दो-दो आदमियों का दो-दो घंटे के लिए पहरा लगा दिया– दस से बारह, बारह से दो, दो से चार– कि आपलोग देखते रहना, यह जाने लगें तो संकेत कर देना। हम सभी मिलकर रोक लेंगे। लड़के दूर से ही कुटी की निगरानी करने लगे। जब वे यह देखने कुटी के पास आये कि देखें, महाराज हैं या भाग गये? महाराजजी की श्वास भारी हो जाय। वह उठकर बैठ जाते, धूनी खोदकर प्रज्ज्वलित करते, सोचते कि बात क्या है? पास में कौन-सी समस्या है? इतने में पास आनेवाले लड़के आहट पाकर रुक जाते। उनके संकल्प-विकल्प रुक जाते तो महाराज जी को भी अपशकुन होना बन्द हो जाता। रातभर में ऐसा तीन बार हुआ।

प्रातः के चार बज गये। महाराजजी की सेवा में उपस्थित रहनेवाले भाविक आने लगे। कोई जल लाकर रख रहा है, कोई कमण्डल में जल भरने लगा। सूर्योदय होते-होते पूरा गाँव महाराज जी के पास आकर बैठ गया। स्त्री-पुरुष-बच्चे, सभी कुटिया में एकत्र हो गये। कोई किसी से बोल नहीं रहा है। महाराजजी की चिलम चढ़ रही थी। गाँजा पीनेवाले दो चार पास में थे। गाँव के लोगों में से कोई-कोई उठकर सड़क पर चला जाता और देखता कि मिश्राजी के गाँव की ओर से कोई आता तो पूछते, वह मर गये या अभी जीवित हैं? किन्तु उधर से कोई आता दिखायी नहीं पड़ रहा था।

अचानक एक आदमी बोल पड़ा, "वह देखो! मिश्राजी चले आ रहे हैं! वह बैलगाड़ी में बैठे हैं। उनका लड़का बैलगाड़ी चला रहा है। सब के सब सड़क की ओर दौड़ पड़े। मिश्रा जी आये। महाराजजी को सादर प्रणाम किया और बोले, "महाराज! आप रातभर हमारी खटिया पर बैठकर शिर से पाँव तक हमें सहला रहे थे और कह रहे थे– 'घबड़ैहै न! मैं आ गया हूँ। अब तू मरेगा नहीं।' रातभर आप हमारे पास बैठे रहे। मैं सीधे खुली आँख से प्रत्यक्ष दर्शन कर रहा था। बीच-बीच में आप हमारे शिर पर हाथ फेर देते

थे। सबेरे पाँच बजे दस मिनट के लिए मेरी आँख लग गयी। जहाँ आँख खुली, आप वहाँ नहीं थे। महाराज! आप किस रास्ते से इतना शीघ्र आ गये।''

तब ठाकुरों ने कहा, ''अरे! रातभर हमलोगों ने पहरा दिया है। हमलोगों को महाराज यहीं बैठे मिले, चिमटे से धूना खोद रहे थे। यह तो रातभर यहीं बैठे थे!'' महाराजजी ने पूछा, ''क्यों रे! पहरा क्यों दे रहे थे?'' उन लोगों ने कहा, ''महाराज! आपने अल्टीमेटम बहुत बड़ा दे डाला था क्योंकि मिश्राजी के जीने की कोई आशा नहीं थी। हमलोगों ने सोचा, मिश्राजी भले मर जायँ, महाराज जी भागने लगेंगे तो हमलोग रोक लेंगे, इसलिए पहरा दे रहे थे।''

महाराज जी बिगड़े, ''धत् तेरे खलों की! रातभर हमारे भजन में व्यवधान डालते रहे। अब यह जगह रहने लायक नहीं है।'' लोगों ने बहुत अनुनय विनय करके महाराज को मनाया।

मधवापुर में जब कई मरती-जीती घटनायें हो गयीं, पेड़ भी कहना मानने लगा, महाराज जी की जुबान से जो निकले, वही हो जाय। (महाराज जी कहते थे– हो! सिद्धि कुछ नहीं है, वाक्‌सिद्धि है; जो मुख से निकल जाता है, भगवान को करना पड़ता है।) तब महाराज जी के मन में यह विचार आया कि जब हम गाँव के पास कुटिया में भजन कर रहे थे तब गाँव के लोग, माई-दाई रास्ता चलते कहा करते थे, 'तुमलोग सोचते हो संतजी भजन कर रहे हैं। अरे! इन्हें टी.बी. हो गयी है या पीलिया हो गया है। यह हैं रोगी, जब न मर जायँ!' अब तो सधुआई में रंग आ गया है। क्यों न गाँववालों को अपना चेहरा दिखा दूँ। सब जान तो जायँ कि ये बीमार नहीं हैं, भजन कर रहे हैं, सिद्धपुरुष हैं, महात्मा हैं। ऐसा विचार करते ही महाराज जी को अपशगुन हुआ। महाराज जी रूक गये।

दूसरे दिन महाराजजी पुनः ऐसा विचार बनाकर खड़े हुए, चलने को तैयार हुए तो भगवान ने मना किया। महाराज रुक गये। एक महीने तक मन

नये-नये तरीके से गाँव चलने का उपक्रम करता, चलने को तैयार भी होते किन्तु प्रतिदिन भगवान मना करते रहे। एक दिन एक भक्त घोड़े के बाल का चमर बनाकर लाया, कहा- भगवन्! यह आपके लिए है। महाराज के मन में आया कि चमर गुरु महाराज के लिए अच्छा रहेगा। उनके पैर में फोड़ा हो गया है, मक्खियाँ बैठती हैं, वह इससे उड़ाया करेंगे और इसी बहाने उनका दर्शन भी कर लूँगा। लोगों से भेंट भी हो जायेगी। दो-चार लोगों से मिलते हुए निकल आऊँगा। उठकर वे चलने लगे। अपशगुन होता रहा कि मत जाओ! फिर भी महाराज जी रेलगाड़ी के डिब्बे में बैठ ही गये। रास्तेभर अपशगुन होता रहा और जब वह रामकोला स्टेशन पर आ गये तब आकाशवाणी हुई। भगवान ने कहा- "आ तो गये हो, प्लेटफार्म पर पाँव मत रखना; नहीं तो तुम्हारे सभी करम हो जायेंगे।"

महाराजजी ने बताया कि ऐसा निर्देश मिलने पर वह डिब्बे का सिकचा पकड़कर थोड़ा लटककर प्लेटफार्म पर देखने लगे कि गाँव का कोई हमें देख लेता, वह सबको बता देता कि हाँ, वह साधु हैं। फिर तो प्लेटफार्म पर उतरने की आवश्यकता नहीं रह जायगी। गाँव से सटा हुआ रेलवे स्टेशन! गाँव के पन्द्रह-पचीस आदमी वहाँ नित्य ही पहुँच जाया करते थे किन्तु भगवान की ऐसी व्यवस्था कि उस दिन कोई दिखायी न पड़ा। महाराज जी ने बहुत झुककर देखा फिर भी कोई दिखायी न पड़ा। लगभग बीस-चौबीस मिनट गाड़ी रुकी रही। वह पैसेन्जर ट्रेन अब चलने लगी; धीरे-धीरे गति पकड़ने लगी। तब महाराज ने मन में विचार किया- हमें तो यहीं तक आना था। आगे तो हमें जाना नहीं है। न हो तो यहीं उतर जाऊँ। गाँव नहीं जाऊँगा। गाँव के बाहर ही बाहर निकल जाऊँगा। कदाचित् कोई मिल ही जाय! महाराजजी चलती ट्रेन से कूद पड़े, कुछ चोट भी लगी। ट्रेन निकल गयी।

उस घटना को बताते हुए महाराजजी ने कहा- प्लेटफार्म पर उतरते ही हमारे शरीर से एक पुतला निकला- हमारे ही आकार का, इसी ऊँचाई का! वह बोला- "घर जाओ! तुमसे भजन नहीं होगा। देखो, घर इसी झाड़ी की आड़ में है।" महाराजजी डर गये, काँप गये। दूसरी बार एक पुतला

निकला– "देखते क्या हो? चले जाओ। यह पगडण्डी वहीं तक जाती है।" तीसरी बार एक पुतला और निकला, बोला– "अब खड़े रहने से कोई लाभ नहीं! तुम साधु नहीं हो सकते। अब आगे-पीछे क्या देखते हो? आ तो गये! यही तो है।"

महाराजजी ने सोचा, यह जमीन रामकोला गाँव में आती है। पटरी के उस पार की जमीन दूसरे गाँव की है। इसलिए वह उछलकर पटरी के दूसरी ओर चले गये और जिधर मुँह था, उधर चल दिये। तब भगवान ने डाँटा– "कहाँ भागा जाता है? अब तुम साधु कभी नहीं हो सकते। जाओ घर जाओ!" महाराजजी सड़क से सौ-डेढ़ सौ मीटर की दूरी पर खड़े हो गये। महाराजजी प्रार्थना करने लगे– भगवन्! गलती हो गयी। अब कभी भूल नहीं होगी, क्षमा करें। किन्तु कोई सुनवायी नहीं हो रही थी। दिन के चार बजे से रात के ग्यारह बजे तक महाराज वहाँ खड़े ही रहे, रोते रहे, आँसू बन्द ही न हो। गाँव से लगा हुआ स्टेशन किन्तु उस बीच उधर कोई आया ही नहीं। महाराजजी के मन में आया कि जब भगवान लौटने ही नहीं दे रहे हैं तब भी घर तो नहीं जायँगे, भले ही प्राण निकल जायँ। धीरे-धीरे चलकर वह अपनी उस कुटिया में आ गये जहाँ पहले भजन करते थे।

पहले महाराज जब उस कुटिया में रहते थे, एक ऐंतल गैंतल काला और कंजा कुत्ता वहाँ आया और टिक गया। लोग उसे कुइरा कहते थे। महाराज तो वहाँ से चले गये थे किन्तु वह दिनभर कहीं खा-पीकर रातभर कुटिया में बैठा रहता था। ज्योंही उसने महाराज जी को देखा, उनके चरणों में लोटने लगा, फिर वह सपाट दौड़कर गाँव की ओर गया और महाराजजी के समय में जो दर्शनार्थी भक्त आते थे, उनकी रजाई, उनका कम्बल पकड़कर खींचने लगा, कूँ-कूँ करने लगा। वह उनलोगों से लिपट पड़ रहा था। कभी इधर गिरता तो कभी उधर! वह उन्हें जगाकर पुनः दौड़कर महाराज के पास आता और पुनः दूसरे घरवालों को जगाता। इस प्रकार वह पाँच पलोटन आया और पाँच पलोटन गया तो लोगों ने कहा– बात क्या है? आज कुइरा बहुत खुश है। कहीं सन्तजी तो नहीं आ गये? कुतूहलवश लोग

इकट्ठे होकर आये तो संतजी कुटिया में बैठे-बैठे आँसू बहा रहे थे। लोगों ने बहुत पूछा– संत जी! बात क्या है? बस, कोई उत्तर नहीं!

धीरे-धीरे उस कुटिया में दिन कटने लगे। महाराजजी भजन करने लगते तो भगवान से झिड़की मिलती– "ना! भजन तोसे ना होई, घर जा! यहाँ क्या मूड़ी लटकाकर बैठा है?" महाराजजी की रुलाई बन्द ही न हो। कोई गाँव से आने लगता तो अवसर मिलने पर पानी का छींटा मारकर महाराजजी मुख धो लेते और अवसर न मिले तो आँसू पोंछ लें किन्तु बातचीत किसी से नहीं होती थी। इसी तरह डेढ़ वर्ष व्यतीत हो गये। वह प्रतिदिन भगवान से क्षमा-याचना करते कि भगवन्! चाहे प्राण निकल जायँ, घर तो नहीं जाऊँगा। हमसे बड़ी भूल हो गयी। प्रभो! अब भविष्य में कभी भूल नहीं होगी। गाँव के लोग भी व्यंग कसते– जब साधू हो गये तब यहाँ क्यों चले आये? आपको कहीं मर-खप जाना चाहिए था। रोनी-सी शक्ल लेकर दिनभर बैठे रहते हो? आपको लज्जा भी नहीं आती। महाराज सोचते थे, हम अपनी सधुआई दिखाने आये थे यहाँ सबने हमारी रुलाई देखा।

डेढ़ वर्ष पश्चात् भगवान ने सुनवायी की, बोले– अब तो कभी नहीं आयेगा? महाराज ने अनुभव में ही कहा– कभी नहीं। भगवान बोले– थूको और चाटो। अनुभव में ही महाराज से उन्होंने थुकवाया, चटवाया। भगवान ने आदेश दिया– उठो और इसी समय यहाँ से निकल जाओ। उस समय रात के दो बजे थे। महाराजजी अनुभव से सचेत हुए और चल पड़े; जैसे कोई पक्षी पिंजरे से छूट जाय! जैसे जाल में फँसा हुआ पशु छूटने पर भागता है, उसी प्रकार महाराजजी तेजी से चल पड़े। उस समय भी गाँव का एक व्यक्ति मिल गया। वह बोला– "संत जी कहाँ?" आपने कहा– "अब जा रहे हैं?" उसने कहा– "उचित है! जब साधु हो गये तो चेहरा दिखाने यहाँ क्यों चले आये? अब आपको यही उचित है।" उसने भी व्यंग्य किया।

महाराजजी ने विचार किया कि घर तो क्या इस मैदानी इलाके में मैं कभी नहीं आऊँगा। पता नहीं किन-किन तरीकों से मोह खींच ही लेता है।

मन में साधुता की महिमा दिखाने का मोह था। यह चमत्कार भी एक खतरा है। अब हम कश्मीर की ओर, हिमालय की ओर चले चलते हैं। वहीं किसी खोह-खन्दक में भजन कर जीवन व्यतीत कर लेंगे। महाराजजी ने ट्रेन पकड़ा और जम्मू निकल गये। अब भगवान बताने लग गये कि इधर चल, उधर चल। जम्मू में निर्देश मिला कि चित्रकूट जाओ। उसी क्रम में काशी, जौनपुर, इलाहाबााद होते हुए महाराज मानिकपुर पहुँचे। मानिकपुर में भगवान ने कहा– ''चल, तोर नौकरी लग गयी मोरे यहाँ।'' भजन जहाँ से छूटा था, वहीं से आरम्भ हो गया। भजन में सम्पूर्ण गति, भगवान की अनुकूलता मानिकपुर में हुई। भगवान पुनः खुश हो गये।

इस प्रकार साधक से कभी-कभी भूल हो जाती है तो भगवान अपने बोलने का सूत्र बन्द कर देते हैं– **'गाँठ पड़ी पिया बोले ना हमसे!'**' जरा-सी गाँठ पड़ी, भगवान ने कहा इधर मत जाना और वह उधर चले गये! बात इतनी सी! शरीर से कोई भूल नहीं हुई, अपराध कुछ भी नहीं हुआ, केवल आज्ञा की अवहेलना–

बिधि बस करम काल कठिनाई। रेख लाँघि सिय बाहर आई।।

(विश्रामसागर)

भगवान ने जो रेखा निश्चित कर दिया, जहाँ उसका उल्लंघन किया तो दैव बलवान है, काल की करालता है, जो कुछ है सब धोखा है।

अपने पिया को मैं बेगि मनइहौं,
सौ तक सीर होत हरिजन से।

मैं अपने प्रभु को शीघ्र मना लूँगा। भक्तों से एक-दो नहीं सौ-सौ भूलें होती आयी हैं। नारद देवर्षि का पद पा गये; किन्तु जरा-सी भूल उनसे भी हो गयी। अहंकार हो गया कि हम भी जितेन्द्रिय हो गये। परिणामस्वरूप एक जन्म उन्हें और लेना पड़ा। इसी प्रकार मैं भी उन्हें अवश्य मनाऊँगा। लाख भूल हो, लाख बार भगवान नाराज हों; वह नाराज इसलिए नहीं होते कि तुम नष्ट हो जाओ! पिता इसलिए नाराज नहीं होता कि बेटा सचमुच नालायक

है तो उसे घर से भगा दिया जाय! वह कभी घर से भगाता है, कभी ताड़ना देता है उसके सुधार के लिए! उस बच्चे के अन्दर जो और प्रतिभा छिपि हुई है उसे निखारने के लिए! भगवान इसलिए नाराज नहीं होते कि भक्त खो जाय! सैकड़ों भूलें भगवान क्षमा करते हैं। मैं शीघ्र अपने प्रभु को मना लूँगा। जहाँ यह शब्द भगवान ने सुना–

सुनि मृदु वचन पिया मुसुकाने।

कौन-सा मृदु वचन कह दिया? यही कि सब काम छोड़कर मैं प्रभु को मनाऊँगा। सब ओर से एक प्रभु में विश्वास दृढ़ किया, एक टेक, एक प्रण पर जहाँ आरूढ़ हुए, संकल्प मन में स्थिर कर जहाँ चले, इस टेक को सुनकर भगवान प्रसन्न हो गये कि अब तो इसके हृदय में एक मेरा ही आसरा रह गया है। भगवान ने हृदय से यह जाना तो प्रसन्न हो गये।

सुनि मृदु वचन पिया मुसुकाने।
कहत कबीर पिया मिले बड़े तप से॥

कबीर कहते हैं पिया मिलते हैं, अवश्य मिलते हैं किन्तु बड़े तप से मिलते हैं। मनसहित इन्द्रियों को इष्ट के अनुरूप तपाने का नाम तप है। पहले मन कदाचित् ठीक रहता हो किन्तु घण्टा-डेढ़ घण्टा भजन में बैठकर देखें कि मन कितना एकाग्र होता है? जब यह मन किसी तरीके संयत नहीं होता दिखता, लोग शान्त-एकान्त वन की शरण लेते हैं, वेशभूषा भी बदलना पड़ता है। कभी-कभी ऐसे महापुरुषों को लोग विक्षिप्त पागल समझकर ढेले भी मारते हैं किन्तु जो टेक पर आरुढ़ हैं, भगवान को मनाकर ही दम लेते हैं। बुद्ध ने चालीस उपवास किया– **'पिया मिलें बड़े तप से।'**

भगवान महावीर सर्पों के बल पर खड़े हो जाया करते थे। सर्प निकलेगा और काट लेगा– इस भय से हमारे मन में उद्वेग पैदा होता है या नहीं! जब मन शान्त है, सम है तो आगे परिणाम क्यों नहीं दिखाई देता? जब वह बैठकर भजन करते तो कमर टेढ़ी हो जाती, कभी पीठ दीवाल से लग जाती। इससे बचने के लिए उन्होंने गो-दोहन आसन से बैठना प्रारम्भ

किया, पंजे के बल बैठने लगे जिससे नींद न आये। **'कहत कबीर पिया मिलें बड़े तप से'**– तप की परिपक्व अवस्था में चित्त अचल स्थिर शान्त ठहर जाय– तब भगवान मिलते हैं। भगवान अवश्य मिलते हैं लेकिन चित्त के निरोध और विलयकाल में!

सारांशतः ईश्वर के आदेश का पालन भजन है। उस आदेश की जागृति न पुस्तक पढ़ने से, न पाठ-पारायण करने से, कुछ भी करने से नहीं होती। वह जागृति किसी तत्त्वदर्शी, महापुरुष, जीवनमुक्त, पूर्णत्वप्राप्त सन्त की टूटी-फूटी सेवा, उनके द्वारा निर्दिष्ट साधना के यत्किञ्चित् परिपालन से तथा श्रद्धा-समर्पण से होती है। जहाँ आपके मन की डोर उनमें लगी, तत्क्षण वह आपमें प्रसारित हो जायँगे।

जल्दबाजी में जिस किसी को सद्गुरु नहीं बना लेना चाहिए। सद्गुरु प्राप्ति का सरल उपाय है– **'सन्त विशुद्ध मिलहि परि तेही। राम कृपा करि चितवा जेही॥'**– विशुद्ध सन्त उसी को मिलते हैं जिसे राम, वह प्रभु, कृपा करके एक निगाह देख लें। अब भगवान को कौन गरज पड़ी है देखने की! इसलिए अच्छा तो यह होगा कि उनकी शरण हो जायँ, उनका सुमिरन करें, एक परमात्मा में दृढ़ संकल्प समर्पित होकर लग जायँ–

कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी। जागत सोवत सरन तुम्हारी॥
तुम्हहि छाड़ि गति दूसरि नाहीं। राम बसहु तिन्ह के मन माहीं॥
(मानस, 2/129/4-5)

सोते-जागते, खाना खाते, शौच जाते, खुरपी चलाते– जीवन के हर मोड़ पर समर्पण व श्रद्धा के साथ नाम याद आया करे– यह है शरण तुम्हारी– तुम्हें छोड़कर अन्य किसी का भरोसा न हो– **'राम बसहु तिन्ह के मन माहीं।'** सर्वांगीण समर्पण के साथ प्रार्थना करें। आपके और परमात्मा के बीच में माया का जो पर्दा पड़ा है जहाँ वह हल्का हुआ तो भगवान आपके हृदय से रथी हो जायेंगे, आत्मा क्रियाशील हो उठेगी, मार्गदर्शन करने लगेगी और बता देगी कि वह रहे आपके गुरु महाराज! फिर तो,

सदगुर मिलें जाहिं जिमि, संसय भ्रम समुदाइ।

(रामचरितमानस, 4/17)

सन्देह खत्म! भ्रम समाप्त! उन सद्‌गुरु के माध्यम से जहाँ श्रद्धा की डोरी लगी, साधना जागृत हो जाती है। पहले यह जागृति आंशिक रूप में होती है। ज्यों-ज्यों हमारा संयम सधता जायेगा, प्रकृति का सम्बन्ध घटता जायगा त्यों-त्यों ईश्वरीय आलोक बढ़ता जायेगा। एक दिन इतना विस्तार हो जायेगा कि–

सगुन होहिं सुन्दर सकल, मन प्रसन्न सब केर।
प्रभु आगवन जनाव जनु, नगर रम्य चहुँ फेर॥

(रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, दोहा, मंगलाचरण)

रामचरितमानस में प्रसंग आता है कि राम-रावण युद्ध में जब सभी निशाचर मार डाले गये, केवल रावण जीवित था; वह जब दुर्ग से युद्ध के लिए निकला तो उसके साथ अपार सेना थी। सब तो मर गये थे! यह अपार अभी जीवित ही थे? अध्यात्म में कुछ ऐसा ही है–

मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहुसूला॥

(रामचरितमानस, 7/120/29)

मोहरूपी रावण! और मोह सम्पूर्ण व्याधियों का मूल है, उद्‌गम है। आप किसी वृक्ष की सब टहनियाँ काट भी दें, फिर भी दस जगह से शाखा पत्तियाँ, सब निकल आयेंगी। यदि मूल विद्यमान है तो उसमें पेड़-शाखा-पत्र-पुष्प-फल सब हैं इसलिए रावण के होते हुए सब विद्यमान हैं। किन्तु जब रावण मर गया तो '**रहा न कुल कोउ रोवनिहारा।**' इधर मोह का अस्तित्व शान्त हुआ तो योगाग्नि में प्रसुप्त स्थायी शान्ति प्राप्त हो गयी, चिदाकाश में अमृत तत्त्व की वृष्टि हो गयी। मृत कहते हैं नाशवान को, अमृत कहते हैं अविनाशी को, जिसकी मृत्यु न हो– काल से अतीत उस अविनाशी तत्त्व का संचार चिदाकाश में हो गया। उस समय '**सगुन होहिं सुन्दर सकल**'– सम्पूर्ण शुभ ही शुभ रह गया, अशुभ का कारण समाप्त हो गया। उस समय अनुभव

पूर्ण होता है, स्थिति मिलती है। दर्शन, स्पर्श, प्रवेश और स्थिति मिल गयी तो यही रामराज्य है जो किसी-किसी योगी के हृदय में होता है।

हमारी पुकार ऐसी हो कि वह प्रभु उतर आयें, आत्मा से अभिन्न होकर खड़े हो जायँ, मार्गदर्शन करने लगें; उसी दिन से भजन की शुरुआत है और आज्ञा का जरा-सा भी उल्लंघन किया तो **'गाँठ पड़ी पिया बोले ना हमसे।'** फिर तो एक जन्म का धक्का लग जाता है। भगवान के आदेश में घट-बढ़ न करें, अपनी बुद्धि न लगायें अन्यथा वह रुष्ट हो जायेंगे और आपका रास्ता लम्बा हो जायेगा। वह भक्त को नष्ट करने के लिए नाराज नहीं होते बल्कि उसे घेरकर रास्ते पर लाने के लिए नाराज होते हैं। इसलिए आज्ञापालन ही भजन है। सद्‌गुरु के कृपा-प्रसाद से उस आज्ञा का संचार है, इसलिए सबको गुरु महाराज की शरण जाना चाहिए।

ईश्वर एक से सवा कभी हुआ नहीं। उस एक परमात्मा की शरण जाना चाहिए। जो इस परमात्मा का बोध कराता हो, सीधा परमात्मा को ही सम्बोधित करता हो, जो उनका परिचायक हो– ऐसे किसी एक दो-ढाई अक्षर के नाम ओम् अथवा राम का चिन्तन करें, उसे जीवन का अंग बना लें।

भजन करने के लिए कोई जगह पवित्र अथवा अपवित्र नहीं होती। जगह तब अपवित्र है जब हमारे हृदय से, स्मृति पटल से उनका सुमिरन, चिन्तन विस्मृत हो जाय! तब चाहे आप इत्र ही छिड़ककर क्यों न बैठें, अशुद्ध ही हैं। रावण के दरबार में जब हनुमान पहुँचे तो सन्देह में पड़ गये कि सुना था स्वर्ग होता है, लगता है यही है। रावण ने इतने स्वर्गिक ऐश्वर्य का संग्रह कर रखा था फिर भी अधम, खल, निशाचर की सारी डिग्रियाँ उसके पास थीं।

एक सेठ जी थे। भजन में मन लग गया। दुकान-दौरी चौपट हो गयी। घरवाले लगे काँव-काँव करने! सेठ ने गुरु महाराज से कहा कि घरवालों ने तो जीना मुश्किल कर दिया है। गुरु महाराज ने कहा– बेटा! कहीं दुकान लगा ले। कुछ कारोबार शुरू कर। सेठ ने ऐसे कुठौरे दुकान लगाया कि उस

गली से आदमियों का आना-जाना था ही नहीं; किन्तु भगवान का मन! ऐसी प्रेरणा हुई कि क्षेत्र भर के ग्राहक उसी सेठ की दुकान पर आने लगे। ऐसी साख बन गयी कि चाहे पाँच साल का बच्चा भेज दो, सेठ सौदा सही देगा। दिनभर बिक्री करते-करते, डाँड़ी चलाते सेठ कुढ़ता– हे भगवान्! कौन-सा पाप प्रकट हो गया कि आपका नाम छूट जाना चाहता है। दिनभर इसी छटपटाहट में बीतता।

रात्रि में जब वह दुकान बन्द करता तो लोटा लेकर शौच के बहाने दूर एकान्त नाले में निकल जाता। आड़ में बैठकर टट्टी करता और भगवान का नाम 'राम, राम....' तब तक जपता जब तक उसे कुछ शान्ति नहीं मिल जाती। वह जानता था कि जब साफ-सुथरा होकर घर पर भजन करने बैठूँगा तो घरवाले पुनः उपद्रव करेंगे कि हमारे सेठ की बुद्धि फिर भ्रष्ट हो गयी। हमें भजन ही तो करना है, लोगों को रिझाना तो है नहीं! उसे इसका भान भी नहीं था कि कैसी जगह बैठे हैं! उसे तो नामजप की लौ लग गयी थी।

एक दिन हनुमानजी की निगाह उस सेठ पर पड़ गयी। वह बौखला उठे– लो! यह बनिया-बक्काल की जाति! हमारे परमात्मा के पवित्र नाम को भी अशुद्ध करने में लगा है। यही समय था नाम जपने का! न हो तो थोड़ी इसे सीख दे दूँ। हनुमान ने उसकी पीठ में एक लात मारा ताकि वह मुँह के बल गिर पड़े, दो-एक दाँत-वाँत टूट जायँ लेकिन वह टस से मस नहीं हुआ। 'राम, राम, राम' शान्तिपूर्वक कहता रहा। अब हनुमानजी को थोड़ा जोश आया। उन्होंने तुरन्त दुपट्टा फेंका, चार दण्ड-बैठक गलाया और जम्प करके वह लात मारा जो मेघनाद की छाती में कभी मारा था जिससे यह कुपात्री रसातल को चला जाय लेकिन वह बनिया टस से मस नहीं हुआ। वह रामधुन लगाते हुए भजन में पूर्ववत् डटा रहा।

उर-प्रेरक तो भगवान हैं। इतने में हनुमानजी के मन में प्रेरणा हुई कि कहाँ से इस कुपात्री को छू दिया, हम भी अशुद्ध हो गये और भगवान की सेवा में भी विलम्ब हो जाना चाहता है। हनुमान को सेवा में कभी विलम्ब

हुआ ही नहीं। उन्होंने तुरन्त सरयू में एक डुबकी लगायी और दूसरे पल में भगवान के समक्ष सेवा में उपस्थित हो गये।

भगवान के महल में वहाँ दूसरा ही दृश्य था। भगवान को हल्दी छोपी जा रही थी। भगवान बुरी तरह कराह रहे थे। स्वाँस लेने में भी कष्ट हो रहा था। दवा-दारू, वैद्य-डॉक्टर सब फेल हो चुके थे। हनुमानजी ने पूछा– प्रभो! यह क्या हो गया? भगवान बोले– अरे हनुमान जी! कुछ पूछो मत। आज तो हम लातै-लात बहुत मारे गये। हनुमान जी की भृकुटि तन गयी। वह बोले– प्रभो! अब संसार में ऐसा कौन जीवित है जो आपकी ओर लात उठाये? आप उसका नाम भर बता दें, मैं अभी उसका सफाया किये देता हूँ। भगवान ने कहा– अरे हनुमान जी! तुम्हीं ने तो मारा। हनुमान ने कहा, प्रभो! इतनी बड़ी भूल भला मुझसे कैसे हो सकती है? भगवान ने कहा– क्या उस बनिये को मारा था? हनुमान ने पूछा– भगवन्! आपको कैसे लग गयी? भगवान ने कहा कि,

जननी जनक बन्धु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥

(रामचरितमानस, 5/47/4-5)

जननी माने माता, जनक माने पिता, प्रिय परिवार, परम हितैषी, धनधान्य– सबके अन्दर ममत्व का जो संचार है, उन धागों को समेटकर रस्सी बनाकर जो मेरे चरणों में बाँध देता है–

अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसइ धनु जैसे॥

(रामचरितमानस, 5/47/7)

ऐसा सज्जन मेरे हृदय में बस जाता है। 'मैं उसके हृदय में बसूँ'- यह तो आरम्भिक स्तर है; ऐसा सज्जन जो मेरे हृदय में निवास करता है, उसके कवच के रूप में चारो ओर तो मैं था। सबसे सम्बन्ध तोड़कर वह मुझसे डोरी लगाकर बैठा था। उसके चारों तरफ तो मैं ही था। तुम उसे जितनी लात मार रहे थे, हमीं को झेलना पड़ा। बस तुरन्त हनुमान भागकर उसके पास गये,

बोले- "भैया! भजन करने का तरीका तुम्हारा ही बढ़िया है। लगन हो तो ऐसी!"

प्रायः लोग 'यह भी कर लो, वह भी कर लो, कुछ भजन भी कर लो।' करते ही रहते हैं और गुरु महाराज को भी लांछन लगाते रहते हैं कि दया नहीं कर रहे हैं, मन नहीं लग रहा है- यह सब व्यर्थ की बातें हैं। सबके ममता का धागा वहाँ बाँध दो और धन्धा-पानी जो सामने आता है, करते जाओ, त्यागो कुछ भी नहीं। न काम त्यागो न क्रोध, न मोह, न लोभ- कुछ मत त्यागो, केवल एक श्रद्धा की डोरी वहाँ लगा दो, मन-क्रम-वचन से चलते-फिरते, उठते-बैठते नाम याद आया करे। समर्पण और श्रद्धा के साथ लगें; आगे उन्नत स्तर पर त्यागनेवाली वस्तुएँ भगवान खुद छुड़ा देंगे। स्तर उठेगा तो वह आपको आगेवाली क्लास में घसीट लेंगे। इसीलिए महाराज का आदेश था कि भगवान जब तक आदेश न दें, घर छोड़ना पाप है और जब छोड़ने का आदेश दे दें तो घर में रहना भी पाप है। फिर यदि तुम पीछे रहते हो तो तुम पापी हो और उधर चलोगे तो सुरक्षा उनकी जिम्मेदारी है। हम चाहें कि पतित हो जायँ, भगवान हमको होने नहीं देंगे क्योंकि रक्षा की जिम्मेदारी उनकी हो जाती है।

समर्पण के साथ जो साधक साधना में लगता है, अपने आपको उनको अर्पण करके जो लगता है, कर्म करने में चिन्तन करने में जो कटौती नहीं करता, **'योगक्षेमं वहाम्यहम्'** *(गीता, 9/22)*- उसके योग की सुरक्षा और आगे योग की व्यवस्था का भार, भगवान कहते हैं- मैं स्वयं वहन करता हूँ। इसलिए,

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परं संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणामधिगच्छति।।

(गीता, 4/39)

श्रद्धावान संयतेन्द्रिय और आराधना में तत्पर पुरुष ही मुझे प्राप्त करता है। वह तत्त्वस्वरूप परमशान्ति को प्राप्त कर लेता है। इसलिए कुछ त्यागो

मत! केवल एक प्रभु के प्रति समर्पण के साथ लग भर जाओ, फिर आगे आपमें जब उठने की क्षमता आयी तो भगवान त्याग करवा लेंगे, करना नहीं पड़ेगा। पूज्य गुरु महाराज तो घर की ओर भाग गये थे, भगवान ने पीट-पाटकर पुनः रास्ते पर लगा दिया– **'जाके रथ पर केसो, ता कहँ कौन अँदेशो।'** अतः भगवान को प्रसन्न कर लेना ही सधुअई है। जीवन की सबसे बड़ी सार्थकता है कि मनुष्य शरीर मिला है, इस पर ध्यान देना चाहिए। भजन करके हम कुछ खो नहीं रहे हैं। हाँ, भजन एक परमात्मा का ही करना चाहिए।

रामचन्द्र के भजन बिनु, जो चह पद निर्वान।
ग्यानवन्त अपि सो नर, पसु बिन पूँछ विषान।।

(रामचरितमानस, 7/78-क)

राम– एक परमात्मा के भजन के बिना यदि कोई निर्वाण अर्थात् कैवल्य पद चाहता है तो वह पशु है। अन्तर इतना ही है उसके पास केवल सींग और पूँछ नहीं है। अब चाहे पशु बनें या मानव, यह आपके हाथ में है।

।। श्री गुरुदेव भगवान की जय।।

हमारे प्रकाशन



हमारे प्रकाशन



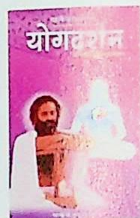
योगशास्त्रीय प्राणायाम -
योगशास्त्रीय प्राणायाम में आपने बताया है कि यम, नियम और आसन के सधते ही श्वास-प्रश्वास का शान्त प्रवाहित होना ही प्राणायाम है। अलग से प्राणायाम नाम की कोई क्रिया नहीं है। यह योग चिन्तन की एक अवस्था है। इसी का समाधान इस पुस्तक में किया गया है।

३ भाषाओं में



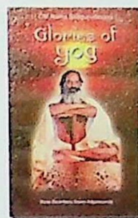
बारहमासी -
अपने पूज्य गुरु श्रीपरमानन्द जी महाराज की आकाशवाणी से प्राप्त भजन (ईश्वरीय गायन) बारहमासी का संकलन एवं उसकी व्याख्या की है। इसमें प्रवेशिका से लेकर पराकाष्ठा तक लक्ष्य की ओर बढ़ने का पथप्रदर्शन किया गया है।

हिन्दी भाषा में



[illegible]न- [illegible]सूत्र व्याख्या -
[illegible] अलंकृत इस पुस्तक में [illegible] है कि 'योग' प्रत्यक्ष [illegible] लिखने या कहने में [illegible] क्रियात्मक चलकर ही [illegible] पाता है कि जो कुछ [illegible] लिखा है उसका वास्तविक [illegible] क्या है? साधनोपयोगी पुस्तक है।

[illegible] भाषाओं में



ग्लोरिस आफ योग -
हठ, चक्र, भेदन और योग, प्राणायाम, ध्यान के बारे में पूर्ण परिचय,

अंग्रेजी भाषा में



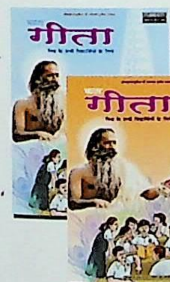
प्रश्न समाज के- उत्तर गीता से -
इस पुस्तिका में सामाजिक, आध्यात्मिक एवं धार्मिक कैसे भी प्रश्न हों, उनका गीता के आलोक में समाधान किया गया है।

हिन्दी भाषा में



अहिंसा का स्वरुप -
अहिंसा एक उलझा हुआ प्रश्न है। मूलत: यह यौगिक, आन्तरिक साधना का शब्द है। इस पुस्तक में हम पायेंगे कि हमारे पूर्वज महापुरुषों ने अहिंसा को किस संदर्भ में लिया है।

४ भाषाओं में



बाल गीता-
यह पुस्तिका बालक के निर्मल मन में एक परमात्मा के प्रति पूर्ण आकर्षण पैदा कर समाज एवं साधना के क्षेत्र में सहज प्रवेश के लिए उपयोगी है। इसमें समर्पण का पाठ्यक्रम अंकित है जिससे बच्चों में धर्म-सन्देश का बीजारोपण, संस्कार पड़ेंगे। वे इस राह पर चलेंगे और अपने ही भगवत्-स्वरूप को प्राप्त कर लेंगे।

४ भाषाओं में



भजन से लाभ (नवयुवकों की जिज्ञासाएँ) -
इस पुस्तिका में नवयुवकों के अनेक प्रश्नों का संक्षेप में समाधान करते हुए भजन की अनिवार्यता पर प्रकाश डाला गया है। यदि एक परमात्मा में मानसिक स्तर से लगते बन गया तो उन प्रभु के संरक्षण में साधना चलती रहेगी, वाह्य कार्यों में भी मदद मिलेगी और आवागमन से मुक्ति तो मिलना ही है क्योंकि ईश्वर-पथ में आरम्भ का नाश नहीं होता।

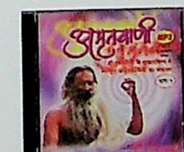
हिन्दी भाषा में

MP3 ऑडियो सिडिज्



११ भाषाओं में

श्री स्वामीजी के मुखारविन्द से नि:सृत अमृतवाणियों का संकलन वाल्यूम १ से ६० तक।



हिन्दी भाषा में

'श्रीमद्भगवद्गीता' की साधना

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः।। (१३/२२)

वह पुरुष **'उपद्रष्टा'**– हृदय-देश में बहुत ही समीप, हाथ-पाँव-मन जितना आपके समीप है उससे भी अधिक समीप द्रष्टा के रूप में स्थित है। उसके प्रकाश में आप भला करें, बुरा करें, उसे कोई प्रयोजन नहीं है। वह साक्षी के रूप में खड़ा है। साधना का सही क्रम पकड़ में आने पर पथिक कुछ ऊपर उठा, उसकी ओर बढ़ा तो द्रष्टा पुरुष का क्रम बदल जाता है, वह **'अनुमन्ता'**– अनुमति प्रदान करने लगता है, अनुभव देने लगता है। साधना द्वारा और समीप पहुँचने पर वही पुरुष **'भर्ता'** बनकर भरण-पोषण करने लगता है, जिसमें आपके योगक्षेम की भी व्यवस्था कर देता है। साधना और सूक्ष्म होने पर वही **'भोक्ता'** हो जाता है। **'भोक्तारं यज्ञ तपसाम्'**– यज्ञ, तप जो कुछ भी बन पड़ता है, सबको वह पुरुष ग्रहण करता है। और जब ग्रहण कर लेता है, उसके बाद वाली अवस्था में **'महेश्वरः'**– महान् ईश्वर के रूप में परिणत हो जाता है। वह प्रकृति का स्वामी बन जाता है; किन्तु अभी कहीं प्रकृति जीवित है तभी उसका मालिक है। इससे भी उन्नत अवस्था में वही पुरुष **'परमात्मेति चाप्युक्तो'**– जब परम से संयुक्त हो जाता है, तब परमात्मा कहलाता है। इस प्रकार शरीर में रहते हुए भी यह पुरुष आत्मा **'परः'** ही है, सर्वथा इस प्रकृति से परे ही है। अन्तर इतना ही है कि आरम्भ में यह द्रष्टा के रूप में था, क्रमशः उत्थान होते-होते परम का स्पर्श कर परमात्मा के रूप में परिणत हो जाता है।

– 'श्रीमद्भगवद्गीता' भाष्य 'यथार्थ गीता' से साभार

श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट
न्यू अपोलो इस्टेट, गाला नं. ५, मोगरा लेन
(रेल्वे सब-वे के पास), अंधेरी (पूर्व), मुंबई - ४०००६९, भारत
दुरध्वनी - ०२२-२८२५५३००
ई-मेल - contact@yatharthgeeta.com वेबसाइट - www.yatharthgeeta.com

